साफ-सुथरा/निष्कलक है तो वह मेरे लिए सर्वथा पूज्य है। आचार्यश्री मे वह सब है जो श्रद्धा को आकर्षित करता है। उनके चुम्बकीय व्यक्तित्व ने १६ सितम्बर की रात कान मे साफ कह दिया कि मुझे वह दस्तावेजी काम करना ही है। मैंने उन्हे इस दृष्टि मे देखना शुरु किया।

१९८९ ई से पूर्व अजमेर (१९७९), बम्बई-बोरीवली (१९८४), और इन्दौर (१९८७) मे मैं उनके दर्शन कर चुका था। जब भी मैं उनसे मिला हूं उन्होने मुझे अपनी अपरम्पार वत्सलता से नखशिख अभिषिक्त किया है। धीमे, कम, सारभूत बोलने/कहने की उनकी प्रकृति है। १९८७ के बाद कानोड (१९८९) मे, इमसे पूर्व रतलाम मे (१९८८), फिर पिपलिया कळां (१९९१) मे तथा गगाशहर-भीनाशहर (१९९२) मे उनके पुनीत दर्शन हुए। सात बार के दर्शन मे मैंने उन्हें सप्तजिह्व (अग्नि) की हर कसौटी पर कसा और पाया शत-प्रतिशत कि वे 'आगम पुरुष' हैं।

आगम पुरुष का बीजाकुरण कानोड मे हुआ। मैं सोचता रहा बारम्बार कि इस ईसा के जीवनवृत्त का शीर्षक क्या हो—अन्तत चेतना पर आगम पुरुष शीर्षक अलथी-पलथी मार कर बैठ गया, इस तरह कुछ कि कोई अन्य शीर्षक इसे अपदस्थ नहीं कर सका। इसे खो देने कई आये, पर यह उठा नहीं—चेतना पर अविरल बना रहा। आगम, पुरुष, दांता, कपासन, और उदयपुर शब्द मुझसे समीक्षा की मांग करने लगे। 'आगम' ज्ञान को तो कहते ही हैं, विज्ञान के अर्थ मे भी यह शब्द प्रयुक्त है। विज्ञान जैनधर्म का एक विशिष्ट शब्द है, जिसका अर्थ चारित्र भी है। मैं मुग्ध हुआ इस अर्थ पर। 'विज्ञान' का अर्थ 'विशिष्ट ज्ञान' तो है ही, 'चारित्र' भी है—यह मेरे लिए सुखद था। फिर 'पुरुष' शब्द जेहन मे आया। पुरुष का व्युत्पत्तिक अर्थ देखा तो आनन्द मे झूम उठा तन-मन। जो लगातार आगे चलता है, चलने मे जिसका पांव कभी/कहीं रुकता नहीं है, वह है पुरुष। इस तरह मैंने अपने भीतर सुनिश्चित किया कि 'आगम पुरुष' अर्थात् वह आदमी जो विज्ञानी है; जो जैसा सोचता है, वैसा जी कर देखता है, और जो गतिमान (डायनेमिक) है; जो मौलिकताओ पर सुस्थित है, जम कर बैठा है; किन्तु नये सदर्भो मे बदलने से इकार नहीं कर रहा है, वह आगम पुरुष है।

मैं मन ही मन मुस्कराया और मैंने शीर्षक को अपनी चेतना मे जज्ब कर लिया। तीन साल से मेहमान यह शब्द अब जा कर कोई आकृति ढूंढ पाया है। एक लघुग्रन्थ के रूप मे ही सही, मैंने कोशिश की है कि एक साधु के जीवन-विवरण को कुछ इस तरह संयोजित किया जाए कि वह पूरी दुनिया के लिए एक जीती-जागती मिसाल ही न बने, वरन् मशाल भी बने।

फिर 'दांता' शब्द ने दरवाजा खटखटाया। दांता राजस्थान का एक गांव है। वह गांव जहां इस आगम पुरुष ने जन्म लिया है। दांता मैं दो बार गया—१७ सितम्बर १९८९, २८ मार्च १९९२। दोनो बार मैंने दांता के रग-रेशे का रोमन्थन किया। वहां के लोगो से मिला। वहां की धरा के चरण छुए। उस कस्बे की पुनीत माटी को मस्तक पर रखा जहां इस महामनीषी ने सूरज की पहली किरण देखी थी। 'दांता', लगता है, मूल मे 'दाता' है। जैसे 'दुनिया' लिखते हैं, और 'दुनियां'

बोलते हैं—ठीक वैसा ही 'दांता' के साथ है। यदि यह सच है तो दांता दुनिया का ऐसा दाता है, जिसने ऐसा दिव्य कुछ दिया है, जिसे यावच्चन्द्रदिवाकरौ कोई मिटा नहीं सकेगा। लगता है 'दांता' शब्द का 'दान्त' और 'दान्ति' शब्दो से भी कोई सरोकार है। दोनो का अर्थ सयम है। जिस गांव ने विश्व को सयम का दान दिया है वह दाँता है।

कपासन को जब खोजने लगा तब मुझे सबकुछ मिल गया। क (क्या), पार्श्व (पास), न (नहीं)—वह कस्बा 'जिसके पास क्या नहीं है' अर्थात् 'जिसके पास सबकुछ है' वह कपासन है। अथवा 'मेरे पास क्या है—कुछ भी नहीं है' जहां इस तरह का आँकिचन्य-बोध है उस कस्बे का नाम कपासन है। कपासन 'आगम-पुरुष' की दीक्षा-भूमि है। इसे देखा। यहां उस वृक्ष को भी देखा, जहां आचार्यश्री की दीक्षा सपन्न हुई थी। यह वृक्ष १९८९ मे तो मिला, १९९२ मे नहीं मिला। उसकी जगह मैदान मिला। दोनो के फोटोग्राफ्स लिये। १९८९ मे वृक्ष के तले खडे रह कर मैंने उसके हर पत्ते मे 'नाना' का 'ना-ना' सुना—लगा जैसे वृक्ष ने कभी पूछा हो कि 'नाना तुझे क्या चाहिये?' और नाना ने कहा हो—'मैं जानता हूं दुनिया मे नाना पदार्थ हैं, किन्तु इन सबके लिए मेरे भीतर 'ना-ना' के अलावा कुछ नहीं है। मुझे लौकिक कुछ नहीं चाहिये, जो हो अलौकिक ही हो, यह मेरी कोशिश है।' यह इसॉ जो आगे चल कर सिर्फ पोखरना-कुली नहीं रहा, पूरे देश का हुआ, अखिल मनुजता का हुआ—इसी कपासन से दीक्षा ले कर आगे बढा। कपासन प्राची है जिसने नाना के नानाआयामी जीवन का एक ऐसा पृष्ठ विवृत किया, जो निरन्तर खुला रहा और जो एक पृष्ठ हो कर भी एक पूरी और सार्थक किताब कहलाया।

जब उदयपुर के बारे मे सोचता हूं तो लगता है कि उदयपुर मे ही 'उदय-पुरुष' क्षितिज पर आया है। पूर्ण सूर्योदय उदयपुर मे हुआ। यहीं जगदम्बा शृगारबाई ने कहा—'बेटे, दूध की धोली चादर पर कोई दाग मत आने देना'। शृगार ने जिस अगार को जन्म दिया, उसने रूढियो को भस्म किया, विषमताओ को जलाया, चचलताओ के अस्तित्व को शेष किया और औपचारिकताओ से ऊपर उठ कर वह निखिल मानवता का शृगार बना। प्रणाम उस जननी को, प्रणाम उस पुत्र को।

तो इस तरह आगम पुरुष की कल्पना साकार हुई। दांता की पहली यात्रा मे सरदारमलजी कांकरिया ने कानोड से भूपराजजी, गजेन्द्र सूर्या, विपिन जारोली, और भरत जारोली के साथ मुझे विदा किया यह सोच कर कि मैं 'आगम पुरुष' लिख कर अपनी लेखनी को अवश्य धन्य करूंगा। दूसरी बार मेरे साथ गजेन्द्र सूर्या के अलावा बशीलालजी पोखरना भी रहे। दांता मे आचार्यश्री के चचेरे भाई श्री कन्हैयालालजी पोखरना से मेरी जो बातचीत हुई, वह इतनी अद्भुत-अपूर्व है कि मैं स्वय उसे दुबारा सुन कर (रिकार्डर मे) चकित हूं, किन्तु उसे यहा न दे कर भविष्य की किसी किताब के लिए सुरक्षित कर रहा हूं। यह सक्षिप्त बातचीत नानालालजी महाराज के व्यक्तित्व पर एक अलग ही तरह का प्रकाश डालती है।

दांता-१९८२ और दांता-१९९२ दोनो ही मेरे जेहन पर जीवन्त हैं। मै दांता को रेशे-रेशे देख रहा हूँ। इस समय वह मेरी आँखो के सामने खडा है। मै आँखें मूंद कर उस कक्ष मे उपस्थित हूँ जहां नाना ने किलकारियां भरी होगी और अपनी मां के सामने अनगिनत बाल-लीलाएँ की होगी। मैं सहज ही वे सारे दृश्य देख रहा हूँ। आप भी देखे।

दोपहर है। अभी-अभी दाल-बाफलो का आनन्द ले कर जन्म-कक्ष की दालान मे आया हूँ। कन्हैयालालजी पोखरना सामने हैं। कई बातो के बीच बोले—'डॉक्टर साहब, यहां पास ही एक तलाई है, जो अब एक छितरायी हुई नाली मात्र रह गयी है। अब उसमे पानी नहीं है। पहले उसमे मगरियो का पानी एकत्रित होता था। अब वह निपट निर्जल है। नानालालजी उसमे तैरा करते थे।'

मैं सोचने लगा—'ऐसा क्यो है कि मैं जिन विशिष्ट मुनियो से अब तक मिला हूं, वे सब तैराकी मे दक्ष थे? क्या,तैराक होना साधु के लिए 'कोई अदृश्य शर्त है?' मैंने कहा—'आज भी वे एक कुशल तैराक ही हैं। पहले वे इस तलाई मे तैरा करते थे, अब अपनी ज्ञान-विज्ञान की भुजाओ से भव-सागर तिर रहे हैं। सुनिये, एक सिद्धहस्त तैराक कभी अपनी तैराकी के गुर अपने तक सीमित नहीं रखता। नानालालजी ने तैराकी के तीन गुर साधको को दिये हैं—समता, समीक्षण समवसरण। विषमताएँ शान्त करो, अपने अस्मित्व की रक्षा करो, अपने भीतर गहरे पैठो, कषाय। को हटाओ, सबको अवसर दो, स्वय आत्मोन्नति का कोई अवसर हाथ से न जाने दो। यदि इतना करोगे तो खुद तो तिरोगे ही, दूसरे भी तिरेंगे।

जब आगम पुरुष लिखने बैठा, तब इसकी रूपरेखा बनाने लगा। मुझे भीतर-भीतर एहसास हुआ कि जिस महामानव का जीवन-वृत्त मुझे लिखना है, उसके जीवन के आसपास तो कोई वृत्त या घेरा ही नहीं है—फिर एक अन्तहीन को सान्त भाषा मे कैसे कैद करूँ? मुझे अजीब लगा, किन्तु कोई विकल्प नहीं था, अत 'प्लान' करने बैठ गया। पूरी किताब को दस हिस्सो मे विभाजित किया अर्थात् इस मनीषी को दसो दिशाओ से देखने-जानने का सकल्प किया। शुरू मे बीस वर्षो का 'जीवन' फिर 'शोधन' (अतरग मे उतर कर जानने-खोजने की प्रक्रिया का समीक्षण), 'प्रसग' (चुनी हुई सात घटनाएं, जो जीवन की बहुमुखीनता की दर्पण बन सके), 'चातुर्मास' के अतर्गत वर्षश घटनापरक विवरण, 'बातचीत' के अन्तर्गत पिपलिया कलां (१९९१) मे आचार्यश्री से हुई चर्चा का सार (यह याददाश्त और टिप्पणियों के आधार पर तैयार की गयी है, इसे तैयार करने मे रिकॉर्डिंग का तो कोई प्रश्न ही नहीं था, अत यह जैसी है अपनी तरह का रसास्वादन लिये हुए है), 'प्रवचन' के अन्तर्गत तीन चुने हुए प्रवचन जो आचार्यश्री के चिन्तन का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'मनन' के अन्तर्गत आचार्यश्री से मेरी इन्दौर मे हुई चौबीस घटो की बातचीत है, जिसे 'तीर्थंकर' के 'साधुमार्गी विशेषाक' मे किचित् परिवर्तनो के साथ अविकल दे दिया गया है, 'अवदान' एक तरह का मूल्याकन है जो वस्तुनिष्ठ होने के साथ व्यक्तिनिष्ठ भी है, 'सूक्ति-गगा' मे ७२ चुनी हुई

सूक्तियां हैं, जो उनके वहत्तर वर्षो की नुमाइदगी करती हैं, और 'मातत्य' मे उनके जीवन से नि सृत कुछ वे सूत्र हैं, जिन्हे निरन्तर रख कर समाज का कायाकल्प सभव है।

आवरण की कल्पना पिपलिया कलां का यह प्रवचनांश है—"शरीर पोशाक है, जिसके फटने या जीर्ण होने पर सताप कैसा? पोशाक पर क्यो रोये?" (१९९२)। इसके अतिरिक्त आवरण के रगो मे वैविध्य है, पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक नयो की एक चाक्षुष बहस है। भेद-विज्ञान को इसमे से निचोडा जा सकता है। प्रसगो के रेखाचित्र अपूर्व हैं—जल्दबाजी मे मैं जो नहीं कह पाया हूं, सतोष जडिया ने उसे रेखाओ के माध्यम मे कह दिया है। 'धोरा दूध री चादर', 'भेड को मिला अभय' और 'सुई की आंख मे-से निकल सकता है ऊंट' के रेखाकन अद्भुत हैं। साधुमार्गी सीमाओ का ध्यान रखते हुए जो भी सार्थक प्राणवत्ता सभव थी उसका ध्यान लेखक और कलाकार दोनो ने रखा है। जडिया के हम कृतज्ञ हैं कि उसने चौबीस घटे जैसी स्वल्पावधि मे इन प्रसग-चित्रो की रचना की।

आगम पुरुष के परिकल्पन मे श्री सरदारमल कांकरिया तथा इसके लेखन और इसकी तैयारी मे श्री भंवरलालजी बैद, अध्यक्ष, श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ ने जो सहयोग दिया है, उसे विस्मृत करना सभव नहीं है। यदि श्री बैद सतत् मुझे प्रेरित-स्फूर्त नहीं रखते, तो इस महत्कार्य का होना लगभग असभव था। मद्रास के श्री केसरीचदजी सेठिया का योगदान भी कम नहीं है। वे भी अपने पत्रो मे आगम पुरुष की प्रगति की पूछताछ निरन्तर करते रहे हैं। श्री भूपराज जैन, श्री गजेन्द्र सूर्या, और श्री चम्पालालजी डागा, मत्री, अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ का भी लेखक उनके बहुमूल्य सहयोग के लिए कृतज्ञ है।

आगम पुरुष किस तरह तैयार हुआ, इसकी व्यथा-कथा बिल्कुल अलग है। यहां वह सब देना प्रासगिक नहीं है, अत रुक रहा हूँ, इतना ही कि ४ सितम्बर से २६ सितम्बर १९९२ तक मैंने जिस तरह काम किया है, उस तरह कर पाना मेरी दैहिक/मानसिक सीमाओ मे नहीं था, फिर भी किया है—सभव है आचार्यश्री के शुभाशीष का ही शुभ फल यह हो। यह जैसा है, आपके सम्मुख है। तय है जब इसका दूसरा सस्करण सामने आयेगा, तब यह काफी भिन्न और अधिक समृद्ध होगा।

अन्त मे हम नईदुनिया प्रिन्टरी के सर्वश्री हीरालालजी झांझरी, श्री श्यामकांत झा तथा श्री प्रफुल्ल शर्मा के कृतज्ञ हैं कि उन्होंने बावजूद तमाम व्यस्तताओ के इसे युद्धस्तर छाप कर यथातिथि उपलब्ध कराया। आशा है यह जीवन-वृत्त व्यापक रूप से पढा जाएगा। मैं मान कर चल रहा हूँ कि यह पाठको के पास एक दरिया की तरह पहुँचेगा—उस समदर की तरह जिससे उठने-उमडने वाले मेघ उनके जीवन के खेतो को सींचेंगे और उन्हे सहज ही साधना की एक सफल फसल उपलब्ध करायेंगे।

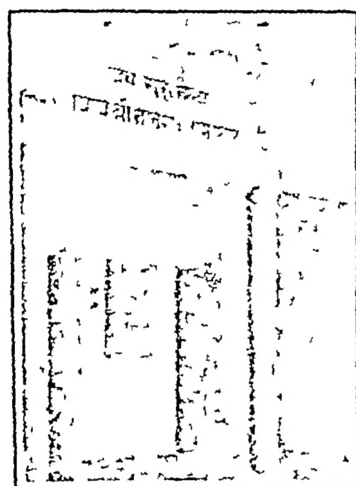
१ [illegible] १९९२

—नेमीचन्द जैन

सपादक 'तीर्थंकर' साप्ताहिक 'क्रान्ति', इन्दौर

अंतरंग

जीवन



जन्म : दौता (राजस्थान), ज्येष्ठ शुक्ला २, वि॰ सं॰ १९७७, १९२० ई।



जन्म-कक्ष में लेखक. आप भी इस पवित्र माटी को मस्तक पर लेकर धन्य हो सकते हैं।

कहानी सुनने की प्रवृत्ति उसमें है। कहानी से जो मिलता है, वह बड़े-बड़े पोथों में नहीं मिलता। प्रवचन आया-गया हो गया, किन्तु जब मुनिश्री चौथमलजी ने कहा कि कल वे एक अद्भुत कहानी सुनायेंगे, तब नाना का जाना रुक गया। उसने सोचा कि अब कहानी तो सुन कर ही चलेंगे।

● बादल तो अपने हिसाब से बरसता है। नीम में नीम, ईख में ईख, बबूल में कांटा, आम में रस। चौथमलजी के शब्द अमृत बनने गये। नींद खुलने लगी। पलकों के नीचे बैठा जिद्दी अँधियारा टूटने लगा। भीतर-भीतर एक सुबह अँगड़ाई भरने लगी।

जीवन

उदयपुर रियासत की एक जागीरदारी का छोटा-सा गाँव। आवादी कम। हरा-भरापन खूब। सुसस्कृत/व्यसन-मुक्त परिवारो की एक साफ-सुथरी बस्ती। खेत-खलिहान। गौ-गौसाल। ताल-तलाई। कुआ-बावडी। चतुर्दिक् एक सास्कृतिक वातावरण। परस्पर सौजन्य। एक-दूसरे की हीर-पीर मे अवाही-जवाही। सरल हृदय ग्रामवासी। अपनी आत्मीयता और सौजन्य के लिए विख्यात पोखरना-परिवार, जिसकी प्रामाणिकता धूप-की-तरह उजली और कमल-दल की तरह निर्लिप्त।
मोडीलालजी का अपना नाम है। वे सद्गृहस्थ है। खेत-खलिहान के धनी है। घरेलू काम-काज मे काम आने वाली चीज-वसत का व्योपार है। यही-अनाज, कपडा, किराना। काम छोटा, किन्तु खरा।
पत्नी शृंगारबाई की ग्रामाचल मे अपनी जगह है। वे कम बोलती है, किन्तु सबकी मदद पर आठो याम बनी रहती है।
छोटा-सा मकान है। दो बेटे, पाँच बेटियाँ। भरापूरा, हराभरा, धर्मनिष्ठ कुटुम्ब है। कोई कमी नही है।

उष काल है। भोर का तारा दीख पड रहा है। सूरज की किरणे ताल-तलाई के जल से अठखेलियाँ कर रही है। कमल खिलने को है। सूरज-की-किरणो ने उनकी पँखुडियो
को प्रभाती सुना दी है। पक्षी चहक रहे हैं। चारो ओर मद-सुगध बयार है।

सूरज ने घर-घर मे रोशनी बिखेर दी है। लग रहा है हर घर रोशनी-का-खेत
बन गया है। रोशनी-के-खेतो मे कर्तव्य-के-हल चल रहे हैं। रात-दिन-रूपी बैल हल खीच रहे हैं। धरती धन्य है। जगत् जगमगा उठा है।

एक सुबह इधर है, दूसरी पोखरना-परिवार मे हुई है।
जेठ सुदी दूज (वि स १९७७)। पुष्कर मे एक कमल खिलने को है।
एक नन्हे अतिथि की प्रतीक्षा है। सब अपलक खडे है।
मेहमान तक सूरज की किरणो-का-सगीत पहुँच गया है। एक नन्हा-सा रूपस् शिशु परिवार मे आया है। शृंगारबाई की गोद मा त्रिशला की गोद बनी है।

शिशु छोटा है। सबसे छोटा। किसी ने कहा इसका नाम यह रखो, किसी ने कहा यह—पर 'नाना' नाम चल पड़ा है।

'नाना' कहने से ऐश्वर्य-बोध तो होता ही है, विविधता का संकेत भी मिलता है।

वह शिशु जो वैविध्य-का-विभु है, इस घर-कुटुम्ब मे आया है।

आँगन का कण-कण हर्ष-विभोर है। अणु-अणु नृत्य-मुग्ध है।

शिशु कभी रोता है, कभी कोई स्वप्न उसके सुकुमार ओठो पर मृदु कम्पन उत्पन्न कर जाता है।

चौड़ा ललाट। सुगठित देह। गेहुँआ रंग।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'—उज्ज्वल भविष्य की अपनी स्निग्धता है,

अपना वैभव, और अपने संकल्प हैं। प्रज्ञ शिशु के मुख-मण्डल पर विलक्षण आभा है।

वह रोता कम है, सोता-सोचता अधिक है। पता नही उसके भीतर ऐसा क्या है जो बाहर आने को मचल रहा है। छोटा-सा पालना है।

ग्राम्यभाषा मे हम जिसे 'गोझी' कहते है, उसमे 'नाना' है। कभी कोई झुला जाता है,

कभी कोई। वह टुकुर-पुकुर देखता है और चारो ओर अपनी

निर्ग्रंथ मुस्कराहट बिखेर देता है।

उसे कुछ नही चाहिये, पर जो मिल जाता है, उसमे मग्न-मुकून की आदत उसे है।

अपनी माँ को उसने कभी तंग किया हो, ऐसा लग नही रहा है—'लाड' बात अलग है—

वह न करे तो शिशु कैसा, शैशव कैसा?

शिशु अब बालक हुआ है। घर से जब-तब निकल भागना और मित्रो मे खेलना

अब उसे अच्छा लगता है। अब उसकी जिन्दगी का महल सात मंजला हो गया है।

आठवी मंजिल बनने को है।

किन्तु यह क्या? बसन्त आने से पहले पतझार कैसा? अनभ्र आकाश मे

वज्रपात
क्यों? आठ वर्ष की सुकुमार वय-दुस्सह पितृवियोग।
पतझड मे-से वीतरागता-का-वसन्त करवटे लेने लगा। कहने को चचेरे भाई कन्हैयालाल के साथ एक फर्म बन गयी है–'कन्हैयालाल नानालाल', किन्तु चित्त
उसमे रमा नही है। वे उन्मन है। जिन्दगी मे एक नया मोड धडकने लगा है।
पिता की दिवगति मे-से उन्हे जीवन-मरण की परिभाषाएँ मिल गयी है।
नाना को लगा ससार असार है। इसमे सारभूत क्या है? सब क्षणभगुर है।
स्थायी यहाँ क्या है? पिताजी चले गये। सब कुछ यही रह गया। मैं चला जाऊँगा–
सब कुछ यही रह जाएगा।
सूरज ऊगेगा, भोर होगी। सूरज डूबेगा, साँझ होगी। चिराग जलेगे,
चिराग बुझेगे, किन्तु हम शायद नही होगे।
नदी-की-धार होगी, हम नही होगे। तो क्या ऐसा कोई उपाय है कि जन्म ही न हो?
यदि हम जन्म देना बद कर दे तो शायद हमारा जन्म लेना भी बद हो सकता है।
ब्रह्मचर्य की यह मृत्युजयी परिभाषा उनकी चेतना पर आ बैठी।
उन्हे लगा अपने अवचेतन मे कि आदमी को ऐसा कुछ अवश्य
खोजना चाहिये जो अमर हो-जो अमरणशील हो।
यह अकुर था, जिसकी झकार तो भीतर हुई,
किन्तु तुरन्त सम्बल जिसे नही मिला। वह भीतर-भीतर रोमन्थन करती रही।
वैराग्य की जुगाली अनजाने मे बनी रही। काम चलता रहा, पाँव उठते गये;
मन दुनिया से रूठा रहा।
बहिन मोतीबाई ने पचोला (पाँच उपवास) किया। करारा तप थी।
बहिनोई मीठालालजी भादसौडा मे रहते थे। परम्परा थी कि पिता-के घर से ऐसे शुभ अवसर पर सम्मान-के-लिए कोई जाए और सबकी ओर से उपहार दे।
बडे भाई व्यस्त थे–अन्तत नानालाल को जाना पडा। मन पीछे, तन आगे।
जैसे-तैसे चले।

भादमौडा मे मुनिश्री चौथमलजी का चातुर्मास था। प्रवचन चलते थे। नाना बैठ गया।

मन नही रमा। एक कोने मे उन्मन सुनता रहा।

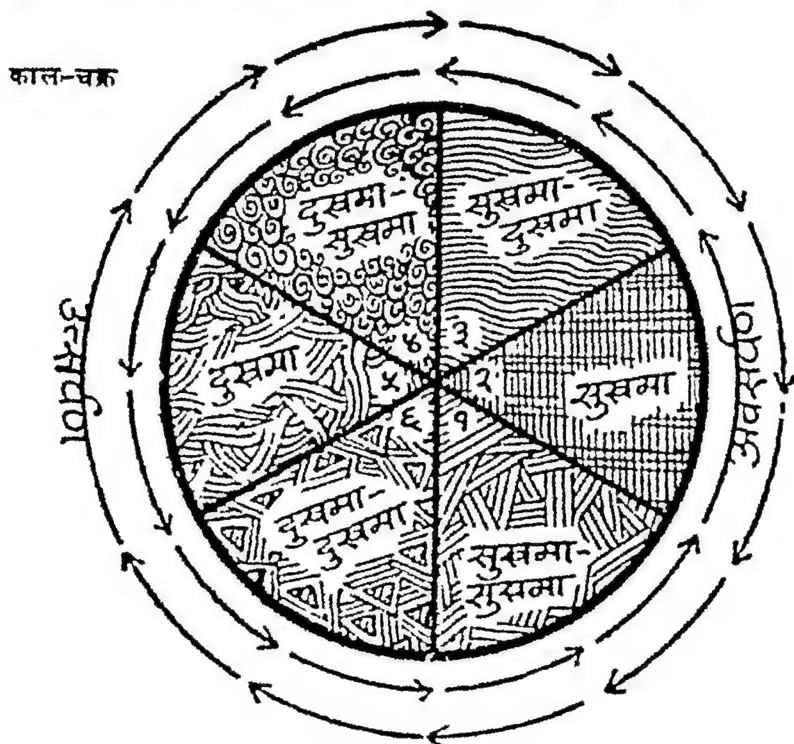
कहानी के लिए उसमे शुरू से एक विचित्र प्यास है। कहानी मे-से जो मिलता वह बड़े-बडे पौथो से नही मिलता। प्रवचन आया-गया हो गया, किन्तु जब मुनिश्री ने कहा कि कल वे एक अद्‌भुत-अपूर्व कहानी सुनायेगे तो नाना का जाना रुक गया। उसने सोचा-कहानी सुन कर ही चलेगे।

बादल तो अपने हिसाब से बरसता है। नीम मे नीम, ईख मे ईख, बबूल मे कांटा, आम मे रस। मुनिश्री चौथमलजी का शब्द-शब्द अमृत-घूंट बनता गया।

नीद खुलने लगी। पलको के नीचे बैठा ज़िद्दी अँधियारा टूटने लगा। भीतर-भीतर

एक भोर अँगडाई भरने लगी। उन्हे लगा कि काल-चक्र यदि इसी तरह घूमेगा तो जीवन व्यर्थ हो जाएगा। जीवन तो सार्थक करना ही है।

उन्होंने काल की विकरालता को समझा। दुखमा/दुखमा-दुखमा को ले कर



उनके मन मे
गहन उदासी छा गयी।
उदासी ने उदासीनता का रूप ले लिया।
काल-चक्र रोम-रोम मे घूमने लगा। दुखमा मे करुणा सिंहासन से उतर जाएगी और
क्रूरता उसकी जगह आ जाएगी–यह देख वे काँप उठे।
दुखमा-दुखमा मे तो क्रूरताऐं, युद्ध, सन्त्रास, संहार, आपाधापी के अलावा कुछ रह ही
नही जाएगा।
उनका रोआँ-रोआँ अन्तहीन क्रन्दन मे तडप उठा।
काल-चक्र घूम रहा था और वे उसके विरुद्ध वीतरागता की परिकल्पना मे झूम
रहे थे। लग रहा था जैसे कोई वैराग्य इस बालक (अब किशोर) के चरण-स्पर्श
की तैयारी मे है।
वनस्पतियो का ह्रास, पर्यावरण का अध पतन-दुखमा-दुखमा का अवरोहण–वे सिहर उठे।
भादसौडा की चिनगारी भदेसर के मार्ग पर चली। घोडे पर बैठे
कुछ इस तरह कि
मन के घोडे पर भी लगाम लगे। माँ से मिलने के लिए मन अकुलाने लगा।
सोचने लगे माँ यहाँ होती तो अभी उनके पाँव पकड लेता। मैंने उनकी
व्रताराधना मे कितने विघ्न डाले हैं—अभागा मैं कितना कर्त्तव्य-विमुख बना रहा?
सोचते जाते, चलते जाते।
भादसौडा और भदेसर के बीच का दस मील का फासला कब कम हो गया–पता ही
नही चला। ऊहापोह मे क्षण गल गये। भदेसर की सरहद्दी पर पहुँचते-पहुँचते
उन्हे लगा कि कोई प्रकाश उनमे प्रवेश कर रहा है–ऐसा प्रकाश जो भीतर पैठे अन्धकार
को पूरी तरह उलीच देगा और भीतर का सारा कल्मष बुहार फेकेगा।
प्रकाश को उन्होंने अपनी भुजाओ मे कस लिया। लगा वह उनके नीवलन सवाद मे है।

अश्व-पृष्ठ पर सवार नाना/प्रकाश दोनो स्वाध्याय मे निमग्न है।

नाना की आँखो मे आँसुओ की धार प्रवाहित है। घोडा उनकी वीतरागता को नही सँभाल सका। वह हिनहिनाने लगा। लगा, वह प्रकाश के स्पर्श से बच नही सका है।

आँसुओ की कुछ बूंदो ने उसे भी उपकृत किया।

नाना ने अपना अँगोछा हाथ मे लिया और आँसू पोछे। घोडे को सहलाया।

घोडे को लगा कि नाना-की-हथेलियो मे कोई आशीर्वाद जनम चुका है। भादसौडा ने इन हथेलियो मे 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की मृदुता उँडेल दी। नाना घोडे को सहलाते जाते और घोडा आत्म-विह्वल अपनी भाषा मे कृतज्ञ हुआ पडता था।

नानालाल ने सीमान्त पर खुद को सँभाला। घोडे को बाँधा और स्वय एक सघन वृक्ष की शीतल छाँव मे विश्राम करने लगे। मन-ही-मन उन्हे लगा कि जिस सत्य की खोज मे वे है उसकी पहली सीढी उनकी पगतलियो के नीचे आ गयी है। मजिल दूर है—कटकाकीर्ण है, किन्तु उसे पाना तो है ही। कुछ देर विश्राम के बाद वे ननिहाल की ओर चल पडे।

घोडे से उतरे ही थे कि माँ दिखायी दी। उन्होने यह देखा, न वह, वे बिलख-बिलख कर रोने लगे। अश्रुधार थमती न थी।

बोले—'माँ, मैंने तुझे बहुत कष्ट दिये है। धर्मध्यान मे कितनी बाधाएँ मैंने पैदा की।

आज जगल मे मगल हो गया। मेरा तो जीवन ही बदल गया है।

अब मैं कोई बाधा नही डालूंगा। जैसा कहेगी वैसा करूँगा। साधु-दर्शन के लिए तुझे मैं खुद ले चलूंगा। मुझे भंगुरता का सत्य मिल गया है। यहा इस जगत् मे नित्य कुछ नही है। सब कुछ नाशवान् है। मैंने कालचक्र को उसकी संपूर्ण तीव्रता मे घूमते देखा है। आरोहण-अवरोहण की इस प्रक्रिया मे मुझे अब और नही पिसना है,

मुक्त होना है। तू तो मुक्ति मार्ग पर है ही- मै नही हूँ—अब हूँ, भरपूर हूँ। मुझे अन्तर्बोध हुआ है।'

माँ का आँचल कृतकृत्य हो उठा। उसकी आँखे डबडबा आयी। वह सोचने लगी—यह सब कैसे हुआ? सहस्रो प्रश्न उसकी आँखो मे बस्ती बना बैठे। वह नाना के भविष्य के बारे मे चिन्तित हो उठी। उसे लगा जैसे यह छोटा-सा तो है,
किन्तु इसके भीतर तो पूरे विश्व का कल्याण स्पन्दित है। क्षण-भर को वह सोच बैठी कि कही यह भगवान् महावीर की तरह सब कुछ छोड निर्ग्रन्थता को
अगीकार तो नही कर लेगा? अतरग से प्रतिध्वनित हुआ—'नाना जन्मा ही इसलिए
है कि वह दुनियादारी को 'ना-ना' कहे और निर्ग्रन्थता को 'हाँ-हाँ'।' वह तब तक खुद मे डूबी रही, जब तक नाना ने उसे 'माँ' कह कर नही पुकारा और
नही बताया कि उसने भादसौडा मे क्या-क्या देखा-पाया?

नाना अपने अनुभव सुनाता जाता और माँ अचम्भे मे डूबी-भीगी सब कुछ सुनती जाती।

काल-पुरुष भविष्य को वर्तमान किये अपनी खिडकी मे सब कुछ देख रहा था।

इस तरह भादसौडा की सवत्सरी का प्रभात भदेसर की सवत्सरी की शाम बना।

भदेसर से दाँता आते ही नानालाल का समग्र जीवन ही बदल गया। वह जहाँ भी
अज्ञान, अन्धविश्वास, रूढि, विवशता, दमन, शोषण देखता उसका हृदय चीत्कार उठता।
उसके विद्रोही मन ने इन सबको अस्वीकार करना शुरू कर दिया। अपने

वाल-मित्रो को वह पढ़ाने लगा। उन्हे धर्म की वाते बताने लगा। जब कभी वह किसी घाट-कुए पर किसी बूढ़ी महिला को, दुर्बल/विवश माँ-बहिन को घटे लाते
देखता और उसे लगता कि यह सब उसकी सीमा-सामर्थ्य से बाहर है तो वह खुद ही उसे उठाता और घर तक पहुँचा जाता। इस तरह नाना के भीतर करुणा के
अनगिनत स्रोत खुल पडे। उसका व्यक्तित्व नानाआयामी बनने लगा। वह कदम-दर-कदम
पर सोचता और सर्वश्रेष्ठ को आकृति देने-उसे अपनी जीवन मे ढालने का प्रयत्न करता।

कालचक्र कहाँ रुकता है? समय-का-रथ अनवरत है। नानालाल के भीतर तूफान उठते, शान्त होते, किन्तु अब वह स्वर्ण-क्षण उसके द्वार खटखटाने लगा था जो उसके जीवन का सत्य बनने के लिए उत्कण्ठित था
उसे पता चला कि युवाचार्य श्रीगणेशीलालजी कोटा मे है। उसे लगा कि अब एक समय का प्रमाद भी नही करना है। जो क्षण देहलीज़ पर आ खडा हुआ है, उसका उपयोग तो करना ही है। सकल्प के सुदृढ होते ही वह कोटा चल दिया। कोटा मे, युवाचार्यश्री को जैसे ही देखा उसे लगा कि जिस गुरु की खोज मे वह था, वह ठीक सामने है। इससे पूर्व वह कई साधुओ से मिला था, किन्तु किसी ने उसकी कसौटियो पर सही होने की सूचना नही दी।
कोटा से पहले उसका परिचय ब्यावर/कपासन मे भी युवाचार्यश्री से हुआ था, किन्तु आज जिस सुदृढ मनोभूमिका पर युवाचार्यश्री का व्यक्तित्व आरूढ हुआ था-
वह रोमाचक मधुर, अद्भुत- विलक्षण था। नानालाल ने कहा-
'भगवन्, शिष्य उपस्थित है। इसे अनुगृहीत कीजिये।'

युवाचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा—'साधु बनना सरल नही है। यह बच्चों का
खेल नही है। पहले साधुत्व को समझो। ज्ञान-तप सीखो। जब तक साधुचर्या को ठीक से जानोगे नही, यह मार्ग श्रेयस्कर नही होगा।'

युवाचार्यश्री की इस अनासक्ति और निष्कामता पर वह मुग्ध हो गया। उसने

सामने और-और साधुओ की मुख-मुद्राएँ आ खडी हुई।

एक कह रहा है—'बनो साधु, आराम से जिन्दगी बसर होगी'।
दूसरे का कथन है—'चेला बन जाओ, फिर सब सिखा दूँगा'।
तीसरे का सुर है—'शिष्य बन जाओ, सम्प्रदाय का प्रमुख बनते देर नही लगेगी'।
चौथे के शब्द हैं-'जैसा सत मैं हूँ, वैसा तुझे कही नही मिलेगा—हम सयम का दृढता से पालन करते है'।
नानालाल को इन तमाम उत्तरो मे कोई समाधान नही मिला। सत्य या सम्यक्त्व यदि कही मिला तो युवाचार्य श्री गणेशीलालजी की वाणी मे। वे कह रहे
हैं—'पहले गुरु को परखो, उसके बाद दीक्षा लो। दीक्षा के बाद तो अपनी आत्मा को तप-की-भट्टी पर चढाना ही है। अभी तो आये हो। रुको।
देखो। मुझे भी देखने का अवसर दो।'

नानालाल श्रद्धाभिभूत हो उठे। उन्हे लगा कि मैं जन्म-जन्मान्तर से जिस सद्गुरु की खोज मे था वह मुझे मिल गया है। उन्होंने मन-ही-मन उन्हे अपना
गुरु स्वीकार कर लिया। गुरु को तो परख लिया, किन्तु अभी खुद को तो इम्तहान देना था।
जीवन का लगभग उन्नीसवाँ वसन्त चल रहा था। सत्य-की-खोज के लिए मन मे
घनीभूत छटपटाहट थी। कपासन के तालाव के किनारे आम्रवृक्षो के कुज के मध्य एक
विशाल आम्रवृक्ष के नीचे युवाचार्य गणेशीलालजी ने दीक्षा की महिमा और उसके स्वरूप पर मार्मिक प्रवचन देते हुए वैरागी नानालाल को मुनिश्री नानालाल के मनोज्ञ रूप मे कायाकल्पित किया। नानालालजी युवाचार्यश्री का प्रथम कर-स्पर्श पा कर कृत्यकृत्य हो उठे। उनके मन-मस्तिष्क मे गूंजने लगा—'दीक्षा का अर्थ है अचचल चित्त से मुक्ति-के-मार्ग पर सतत् अप्रमत्त गतिशील होना। दीक्षा की सार्थकता ही इसमे है कि वह साधना-पथ का दीपक बने और जहाँ भी तमस् हो वहाँ एक सुदृढ दीपस्तम्भ बनाये।'

वारह भावना की यह भावना उनके रोम-रोम पर नृत्य करने लगी—

ज्ञान-दीप तप-तैल भर, घर सोधै भ्रम छोर। या विधि बिन निकसै नहीं पैठे पूरब चोर।।

इसके वाद वे स्वाध्याय और तप से अपना जीवन माँजने मे लग गये।

उनका दीक्षोपरान्त जीवन अध्ययन-मनन मे निर्विघ्न वीतने लगा।

व्याकरण, काव्य, योग, न्याय, आगम, कथा, कोश, छन्द, अलकार, भाषा आदि सभी ज्ञान-

क्षेत्रो का अध्ययन उन्होंने किया। सस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओ का गहन अभ्यास किया।

मन्थन के वाद रोमन्थन की ओर उनका चित्त दौडा।

रोमन्थन स्वाध्याय की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। पढना और पढ कर जुगाली करना—

उसे अपनी चेतना की मुख्य धारा मे अटूट/समग्र डालना रोमन्थन है। रोमन्थन

मे ज्ञान की अभीक्ष्णता /वारम्वारता होती है ताकि विषय की गहराइयो मे उतरा जाए और उसके किसी भी टापू को अजाना न रहने दिया जाए।

वाचन के वाद अधीत विषय का पाचन जरूरी होता है। मुनि श्रीनानालालजी के दीक्षोपरान्त जीवन के मुख्यत तीन पक्ष थे—गुरुसेवा, सयम-साधना, गहन अध्ययन।

उन्होंने धर्म के बहुविध पक्षो का तलस्पर्शी अध्ययन किया, उसके दार्शनिक पहलू देखे,

विज्ञान और धर्म के विभिन्न सदर्भो का तुलनात्मक मनन-चिन्तन किया।

देखा कि धर्म और विज्ञान परस्पर पूरक है, दोनो मे कोई टकराहट नही है।

अव तक लोग विज्ञान को धर्म-विरोधी मानते थे। विज्ञान(साइस)का झोका पश्चिम मे आया था, इसलिए लोगो की उसके प्रति सहज अनास्था थी।

मुनिश्री ने इस अन्तर्विरोध को समझा और समाज को एक तर्कसगत जीवन-पद्धति दी।

उन्होंने कहा—'धर्म को किचित् वैज्ञानिक और विज्ञान को किचित् आध्यात्मिक होने की जरूरत है। दोनो एक-दूसरे के विरोधी नही, पूरक अस्तित्व हैं।'

उनके इस कृतित्व ने धर्म मे एक अपूर्व यथार्थपरकता को जन्म दिया।

अन्धविश्वासो और अन्धी परम्पराओ के पाँव उखडे। जहा लोग ज्योतिष/मुहूर्त

आदि के चक्कर मे आ जाते थे—नानालालजी महाराज के
कृतित्व ने उन्हे यथार्थ की ज़मीन पर ला खडा किया।
उन्होंने जैनधर्म के निर्मलतम रूप को लोगो के सामने रखा।
अधिकतर लोग कर्मकाण्ड मे फँसे/धँसे थे। आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी,
शिवलालजी,उदयसागरजी,
चौथमलजी, श्रीलालजी, जवाहरलालजी, गणेशीलालजी इन सप्तर्षियो मे जो
बहुमूल्य विरासत मुनिश्री
नानालालजी को मिली उसके महायोग को उन्होंने एक महान् योगी की तरह
सिर्फ जैन समाज को ही नही वरन् अखिल मानव-समाज को उपलब्ध
कराया।
वे एक-अकेले नही हैं, बल्कि वे 'हु' मे ले कर 'ग' तक के 'ग्राड टोटल' है।
उनकी चेतना पर क्रियोद्धारक आचार्य हुक्मीचदजी की निर्मलीकरण-क्रान्ति
ैव
रही। उन्होंने शिथिलाचार और प्रमाद को धर्म-के-क्षेत्र मे निषिद्ध रखा।
अमरचदजी का मुई भूलना (कानवन-१९६३) और फिर लौट कर
धत गृहस्थ को लौटाना
/प्रमाद के न होने का ज्वलन्त प्रमाण
गाधु-
कि किसी बडी घटना की
, प्रमाद आदि के
व्यक्तित्व मे हमे
जाना है।
एक मक्षिप्त
मग्नता
तो पाग

वारह भावना की यह भावना उनके रोम-रोम पर नृत्य करने लगी—
ज्ञान-दीप तप-तैल भर, घर सोधै भ्रम छोर। या विधि बिन निकसै नहीं पैठे पूरब चोर।।
इसके वाद वे स्वाध्याय और तप से अपना जीवन माँजने मे लग गये।
उनका दीक्षोपरान्त जीवन अध्ययन-मनन मे निर्विघ्न बीतने लगा।
व्याकरण, काव्य, योग, न्याय, आगम, कथा, कोश, छन्द, अलकार, भापा आदि सभी ज्ञान-
क्षेत्रो का अध्ययन उन्होंने किया। सस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी आदि भापाओ का गहन अभ्यास किया।
मन्थन के वाद रोमन्थन की ओर उनका चित्त दौडा।
रोमन्थन स्वाध्याय की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। पढना और पढ कर जुगाली करना—
उसे अपनी चेतना की मुख्य धारा मे अटूट/समग्र डालना रोमन्थन है। रोमन्थन
मे ज्ञान की अभीक्ष्णता /वारम्वारता होती है ताकि विपय की गहराइयो मे उतरा जाए और उसके किसी भी टापू को अजाना न रहने दिया जाए।
वाचन के वाद अधीत विपय का पाचन जरूरी होता है। मुनि श्रीनानालालजी के दीक्षोपरान्त जीवन के मुख्यत तीन पक्ष थे—गुरुसेवा, सयम-साधना, गहन अध्ययन।
उन्होंने धर्म के बहुविध पक्षो का तलस्पर्शी अध्ययन किया, उसके दार्शनिक पहलू देखे,
विज्ञान और धर्म के विभिन्न सदर्भो का तुलनात्मक मनन-चिन्तन किया।
देखा कि धर्म और विज्ञान परस्पर पूरक है, दोनो मे कोई टकराहट नही है।
अब तक लोग विज्ञान को धर्म-विरोधी मानते थे। विज्ञान(साइस)का झोका पश्चिम से आया था, इसलिए लोगो की उसके प्रति सहज अनास्था थी।
मुनिश्री ने इस अन्तर्विरोध को समझा और समाज को एक तर्कसगत जीवन-पद्धति दी।
उन्होंने कहा—'धर्म को किंचित् वैज्ञानिक और विज्ञान को किंचित् आध्यात्मिक होने की जरूरत है। दोनो एक-दूसरे के विरोधी नही, पूरक अस्तित्व है।'
उनके इस कृतित्व ने धर्म मे एक अपूर्व यथार्थपरकता को जन्म दिया।
अन्धविश्वासो और अन्धी परम्पराओ के पाँव उखडे। जहाँ लोग ज्योतिष/मुहूर्त

आदि के चक्कर मे आ जाते थे—नानालालजी महाराज के
कृतित्व ने उन्हे यथार्थ की जमीन पर ला खडा किया।
उन्होंने जैनधर्म के निर्मलतम रूप को लोगो के सामने रखा।
अधिकतर लोग कर्मकाण्ड मे फँसे/धँसे थे। आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी, शिवलालजी,उदयसागरजी,
चौथमलजी, श्रीलालजी, जवाहरलालजी, गणेशीलालजी इन सप्तर्षियो मे जो वहुमूल्य विरासत मुनिश्री
नानालालजी को मिली उसके महायोग को उन्होने एक महान् योगी की तरह सिर्फ जैन समाज को ही नही वरन् अखिल मानव-समाज को उपलब्ध
कराया।
वे एक-अकेले नही है, वल्कि वे 'हु' मे ले कर 'ग' तक के 'ग्राड टोटल' हैं।
उनकी चेतना पर क्रियोद्धारक आचार्य हुक्मीचदजी की निर्मलीकरण-क्रान्ति सदैव
वनी रही। उन्होंने शिथिलाचार और प्रमाद को धर्म-के-क्षेत्र मे निषिद्ध रखा।
मुनिश्री अमरचदजी का सुई भूलना (कानवन-१९६३) और फिर लौट कर उसे सबन्धित गृहस्थ को लौटाना
उनकी सघ-साधु-चर्या मे शिथिलाचार/प्रमाद के न होने का ज्वलन्त प्रमाण है।
वे मामूली वातो पर इतना अधिक वल देते थे कि किसी वडी घटना की आशका
होती ही नही थी। आज भी उनके सघ मे शिथिलाचार, सुस्ती, प्रमाद आदि के लिए रेशे-भर भी जगह नही है।
यदि हम गौर से देखते है तो आचार्य नानालालजी के व्यक्तित्व मे हमे साधुमार्गी
परम्परागत समग्र शुद्ध चेतना का एक मीजान महज ही मिल जाता है।
साधुमार्ग मे जो आचार-विचारगत उतार-चढाव आये उनकी एक सक्षिप्त
रोमाचक-मस्पन्दता हमे आचार्य नानालालजी के व्यक्तित्व मे सरलता से मिलती है।
आचार्य हुक्मीचदजी को यदि हम साधुमार्ग-की-धुरी निरूपित करे तो पायेंगे कि उन्होंने आगम-सम्मत आचार-धर्म की पुन सस्थापना की और साधु-सस्था

का पुनर्निर्माण किया। यह बहुत बडा काम था। जो मालिम है,
उसे बचाये रखना बहुत दु साध्य कार्य है, किन्तु हुक्मीचंदजी के व्यक्तित्व ने कठोरता
से काम ले कर धर्म के मूल स्वरूप की रक्षा की। सयम और साधना की यह कठोरता हमे आचार्य श्रीनानालालजी मे अक्षरश दिखायी देती है।
केयोलिमिटी अर्थात् आचार की शुद्धता, अप्रमत्तता और मर्यादाओ का दृढता मे परिपालन आचार्य श्रीनानालालजी को आ हुक्मीचन्दजी से दाय मे मिला।
आ शिवलालजी ने ज्ञान और चारित्र के मणि-कांचन योग को महत्त्व दिया। उन्होंने कभी भी आचार-च्युत साधुओ को अपने सघ मे स्वीकार नही किया।
आ हुक्मीचन्दजी की परम्परा को वे शत-प्रतिशत निभाते रहे।
आ उदयसागरजी
का बोध-वाक्य था—सयम पहले, विद्वत्ता तदनन्तर। यह भी आ नानालालजी को रिक्थ मे मिला।
क्रियोद्धार का जो काम आ हुक्मीचदजी ने शुरू किया था सयम के पुनरुद्धार का वह काम आ चौथमलजी तक आ कर सपूर्ण हुआ।
चौथमलजी ने साफ शब्दो मे कहा-साधुमार्ग को चाहे जितने सकट या आपदाएँ झेलनी पडे, किन्तु सयम की रेख-भर भी क्षति न हो।
आचार्य चौथमलजी ने समाज के आन्तरिक गठन और विकास पर बल दिया और
एक सशक्त समाज के सस्थापन मे ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया। वे प्रतिक्षण शिथिलता और प्रमाद के लिए वज्र-की-भाति कठोर बने रहे। वे इस बात से तो सतुष्ट रहे कि शिष्यो की सख्या कम हो, किन्तु उन्होंने शिथिलाचार का कोई सन्धि-द्वार खुले इसे स्वप्न मे भी स्वीकार नही किया।
आ श्रीलालजी ने अहिसा के धुँधलाते स्वरूप को धूप की तरह स्पष्ट किया। उन्होंने अहिसा को सर्वोपरि माना और उसकी छाया मे जीवदया के स्वस्थ स्वरूप का प्रतिपादन किया।
सेमने की घटना (१९८४ ई) मे हम जीवदया के उस परिपक्व रूप का अनुभव कर सकते है। स्पष्टत आ नानालालजी ने अपने पूर्वाचार्यो के आदर्शो और सिद्धान्तो को अक्षरश जिया।

उन्होंने उसमे जोडा ही, कम तिल-भर भी नही किया।

आ जवाहरलालजी ने धर्म को वहुआयामी वनाया। उन्होंने राष्ट्र और धर्म के अलग होते रूपो को अलग होने से रोका। उनमे अदम्य साहस, अखण्ड मानवता/मानवीयता, असीम मनोवल, उदार दृष्टि, राष्ट्रीय चिन्तन, स्वदेशी के
प्रति उत्कृष्ट आस्था, और शिथिलाचार के प्रति विद्रोह कूट-कूट कर भरे थे। उन्होंने
वुराइयो, शिथिलताओ, और दुर्वलताओ से कभी कोई समझौता नही किया। उन्होंने पल-भर को भी ऐसा कुछ नही किया जिसमे जैन धर्म/दर्शन की मौलिक
छवि धूमिल हो। उनके व्यक्तित्व मे जैनधर्म को एक चिरप्रतीक्षित वहुमुखीनता मिली।

उनका सोलह सूत्री थाँदला घोषणा-पत्र (१९०८) आज भी जीवन्त है। जीवदया,
अछूतोद्धार, विधवाओ की दुर्दशा मे सुधार आज भी अपनी स्वस्थ/विस्मृत आकृति
ढूंढ रहे है। यदि हम उनके कृतित्व का कोई जीता-जागता रूप देखना चाहते है तो
वह हमे आ नानालालजी मे दिखायी दे सकता है। 'तीर्थंकर' के 'साधुमार्ग विशेषाक'
के पृष्ठ २०२ पर प्रकाशित ये पक्तियाँ उनके व्यक्तित्व की एक सक्षिप्त/शाश्वत झलक देती हैं—

१९४२ मे उन्हे लकवा हुआ। १८ जून १९४२ मे उनका जो क्षमापत्र प्रकाशित हुआ
वह उनकी आन्तरिक निर्मलता, और शिथिलाचार के विरुद्ध जीवन-भर जूझी गयी लडाई
का जीवन्त प्रतीक है। १० जुलाई को यह सूरज
डूब गया— किन्तु क्या हम माने कि वह डूब गया? क्या सूरज कभी डूबता है?

जो सूरज रात-भर किसी और मुल्क मे रोशनी देने यात्रा पर निकल गया था
वह पुन आ गणेशीलालजी और नानालालजी के रूप मे क्षितिज पर आ गया और
उसने सारे समाज को पुन अभिनव प्रकाश से जगमगा दिया।

जब हम आ गणेशीलालजी के महान् व्यक्तित्व की समीक्षा करते हैं तब पाते हैं कि
वे प्राचीनता और नूतनता के बीच एक अपूर्व सेतुबन्ध थे। उन्होने नवीनता के प्रति
कभी कोई अप्रसन्नता प्रकट नही की किन्तु प्राचीनता के गौरव को उन्होंने
एक क्षण को भी विस्मृत नही किया। दोनो से निर्मल सृजनधर्मिता (क्रिएटिविटी) को
लिया और समाज को नव्य स्वरूप प्रदान करने मे कोई कसर नही रखी।

आ नानालालजी का जीवन इन सात धन-चिह्नो की गौरव गाथा है—
हु + शि + उ + चौ + श्री + ज + ग = ना।
इस समीकरण को ध्यान से देखना चाहिये।
यदि हम इतिहास का सिन्धु-मन्थन करेगे तो पता चलेगा कि आ नानालालजी का
व्यक्तित्व एक ऐसा जीवन्त त्रिभुज है जिसे सात शिल्पियो की चूना-माटी ने
घडा है। समता-दर्शन, समीक्षण-ध्यान और धर्मपाल-अभियान का त्रिभुज साधुमार्ग
का अनुपम अवदान है। हम जानते है कि आ नानालालजी को यह सब अपने पूर्वाचार्यो
से मिला, किन्तु यह उनकी अपनी पारिवारिक/सांस्कारिक विरासत भी है।

करौली से बनवना ग्राम तक दलितोद्धार का जो शंखनाद हुआ, वह साधुमार्ग की
मानवीय उपलब्धियो का सर्वोच्च शिखर है।
समता-दर्शन सामाजिक और आन्तरिक/आध्यात्मिक क्रान्ति का एक ऐसा

सुदृढ
आधार है जो पूरे विश्व को शान्ति और अयुद्ध की निर्मल भूमिका प्रदान कर
मकता है
मिर्फ मीडिया के युद्ध मे हारते चलने के कारण इस त्रिभुज को भले ही सीमित
कर लिया
गया हो वरन् इमका सार्वभौम स्वरूप अखिल मानवता के लिए अत्यन्त
कल्याणकारी मिद्ध हो सकता है।

३० सितम्बर १९६२ की मुबह एक ऐसी मुबह है जिमकी रोशनी कभी कम
नही होगी।
मुनिश्री नानालालजी को युवाचार्य की चादर ओढाई जा रही है।
चारो ओर गगनचुम्बी जयघोप है। दाँता मे उनकी पूज्या माता भी आयी हैं।
ये वही शृगारबाई हैं जिनके चरणों मे लुढककर उन्नीस वर्षीय तरुण नाना
भदेमर मे
फफक-फफक कर रोया था। मवत्सरी की वह शाम पूरी दुनिया की एक
अविस्मरणीय
सुवह बनी है। उम दिन के आँसुओ ने ही वलाइयो के आमू पोछे है।
आखे वद कीजिये और इन दो दृश्यो को देखिये।

एक : नानालाल पूज्या माँ के चरणो मे झुके हुए है और अपने अपराधो के
प्रति
क्षमा -याचना कर रहे है। माँ ने उन्हे उठाकर अपनी छाती मे लगा
लिया है। माँ की यह छाती विश्व की किमी भी माता की पवित्र थाती है।
उन्होने नाना को क्षमा तो किया है, उमके लिए वैराग्य की दिशाएँ भी
उन्मुक्त
कर दी।नाना का नानाआयामी व्यक्तित्व अपनी पूज्या माँ का पारस-स्पर्श पाकर
खिल उठा।

दो : यह दृश्य उदयपुर का है। मुनिश्री नानालालजी को युवाचार्य-पद की
चादर
ओढा दी गयी है। माता शृगारबाई आचार्यवर गणेशीलालजी के सामने वन्दना

की मुद्रा मे उपस्थित हैं। आचार्यवर पूछ रहे हैं—'बेटे के दर्शन किये या नही?
अब वह छोटा नही रहा है।'
माँ के लिए युवाचार्य बेटा भी है, बेटा नही भी है।
बेटा अतीत मे कही खो गया है। वह भदेसर मे अपनी ननिहाल मे आज भी है।
सामने बेटा नही है, एक सघ का युवाचार्य है। पूज्य है।
भदेसर मे माँ के चरणो मे एक बेटे का मस्तक झुका था, आज एक माँ का मस्तक
एक जैन साधु के चरणो मे झुका है। बेटा अब कहाँ है? बेटे मे-से एक युवाचार्य प्रकट हुआ है।
माँ रोमाचित है। वह अपने मातृत्व को लोरियाँ गा कर सुला रही है, किन्तु वह सो नही पा रहा है।

वह सोच रही है। नाना से कुछ कहे; किन्तु कुछ कह नही पा रही है। उसकी आँखो मे अश्रुधार है और देह पर शब्दातीत पुलक। मातृत्व की लिपि कौन समझेगा? यह मोह-माया की भाषा नही है—आत्मोन्नयन की भाषा है। शृगारबाई
ने नाना को जन्म दे कर पूरी वसुन्धरा का शृगार किया है। उसने इसे जन्म दे कर
एक ऐसे शीतल निर्झर को जन्म दिया है जो पूरे विश्व को निर्मलताओ से, करुणा से, कान्ति से, क्रान्ति से, शान्ति से, अयुद्ध से, अहिसा से अभिषिक्त करने की
क्षमता रखता है।
शृगारबाई का सार्वभौम।मातृत्व कह रहा है—'देखना बेटे, मेरे दूध की चादर पर कोई
दाग न आये।' यह मातृ दाता के मातृत्व की पुकार नही है, सार्वभौम मातृत्व की
मर्मस्पर्शी इंगिति है, जिसने आचार्य श्री नानालालजी मे शुभाकृति ग्रहण की है। जो
अभियान/अनुष्ठान आ हुक्मीचदजी ने शुरू किया था, क्या शृगारबाई के इस

वाक्य मे उसी देशना की पुनरावृत्ति नही है? आज जब कि जैन साधुत्व की धौली चादर पर असख्य दाग उभर रहे हैं, कोई भी गौरव के साथ कह सकता है कि साधुमार्ग की धवल, शुभ्र चादर अभी पूरी तरह निष्कलक है? क्या इस निष्कलकता का श्रेय आ. श्रीनानालालजी को नही है?

● ●

मन्दसोर-वर्षावास के बाद सरवनिया महाराज ग्राम मे १७ ग्रामो के प्रतिनिधियो ने जो उन्नीस प्रतिज्ञाएँ ली थी क्या साधु-समाज मे घटित क्रान्ति के बाद, समाज मे घटित क्रान्ति का यह एक सार्थक और प्रासगिक दस्तावेज नही है? सरवनिया महाराज ग्राम के क्षितिज मे लौट कर उन प्रतिनिधियो की वह आवाज आज भी सर्वत्र प्रतिध्वनित है कि हम—

१ मौसर या स्वामी-वात्सल्य आदि किसी भी नाम से किये जाने वाले मृत्यु-भोज मे न तो जीमने जाएँगे और न ही ऐसा कोई मृत्युभोज देगे।

२ विवाह मे तिलक या लेन-देन की सौदेबाजी नही करेगे।

३ सगाई होने के बाद उसे कोई पक्ष नही तोडेगा।

४ मृत्यु के बाद एक मास से अधिक का शोक नही रखेगे।

५ धर्म-स्थान पर सादा वेशभूषा मे जाएँगे और प्रवचन मे मौन रहेगे।

६ स्वय यथाशक्ति धार्मिक शिक्षण लेगे तथा बालक-बालिकाओं को दिलायेगे।

७ धर्म-स्थान अथवा सामूहिक स्थान पर प्रतिदिन सामूहिक प्रार्थना करेगे।

८ विवाह आदि समारोहो पर गदे गीत गाने पर रोक लगायेगे/लगवायेगे।

९ जाति एवं धार्मिक रीति-रिवाजो मे व्यर्थ खर्च नही करेगे।

१० प्रात उठते समय तथा सायं सोते समय ग्यारह बार नवकार मन्त्र का जाप करेगे।

११ दीक्षार्थी भाई-बहिनो की दीक्षा-भावना मे बाधक नही बनेगे बल्कि उन्हे

सहयोग देंगे और उसे सादगी से सपन्न करायेंगे।

१२ कोई भी भाई-बहिन त्यौहारो के दिनो मे शोक वाले के यहां रोने-रुलाने के लिए नही जाएँगे।

१३ विवाह आदि अवसरो पर बैंड-बाजो मे अनावश्यक खर्च नही करेंगे।

१४ प्रतिदिन एक या माह मे तीस सामायिक सपन्न करेंगे।

१५ जाति-सबन्धी एव व्यक्तिगत झगडो को धर्म मे नही डालेगे।

१६ अनमेल विवाह नही करेंगे।

१७ आध्यात्मिक आहार-हेतु धार्मिक पुस्तको का यथाशक्ति पठन-पाठन करेंगे।

१८ सत-सतियो के यहा जहा भी दर्शनार्थी जाएँगे वहा सादा भोजन करेंगे।

१९ नैतिक एवं चारित्रिक बल बढाने तथा असहायो की सहायता करने हेतु यथाशक्ति उदारता बरतेंगे।

क्या उपर्युक्त प्रतिज्ञाएँ आज प्रासगिक नही है? इन्दौर की सस्कार-क्रान्ति (१९८७) इसी का युगानुरूप सस्करण है।

आज श्री आचार्य नानालालजी का बहु आयामी रचनात्मक सग्राम ग्राम-ग्राम/नगर-नगर मे यथापूर्व है, आवश्यकता है उसमे नये प्राण फूंकने की ताकि यह आज के तनाव-ग्रस्त जीवन मे शान्ति-सुख का अविरल स्रोत बन सके।

(दीक्षोपरान्त जीवन-सदर्भ के लिए चातुर्मासिक उपलब्धियां, प्रसग, अवदान आदि देखिये)

शोधन

जोधपुर (१९७६) में उन्होंने जो पचकूर्णी देशना दी उसमें उनके पचपन वर्षों का सार आ गया है। वे मूक जन जागरण और सामाजिक क्रान्ति के प्रमुख आधार बने। इन्हीं सृजनधर्मा क्षणों में उन्होंने 'जन्मना' महत्ता को नकारा और 'कर्मणा' महत्ता को स्वीकार किया। भगवान् महावीर की वाणी को मैदान में लाने का उनका यह उपक्रम पूरे देश के लिए क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ (हो सकता है)।

शोधन

आत्मशोध की प्रक्रिया बडी सूक्ष्म और संवेदनशील प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया मे व्यक्ति के तन-मन को कई विकट घाटियो और बियावान जगलो से गुजरना होता है। कई तूफान, कई आँधियाँ, कई फिसलने उसकी जिदगी मे आती है। कई बार तो असावधानी मे पाँव ही फिसल जाता है। इस तरह मजिले-तलाशती उम्र किस मोड पर किस सीढी पर अपना पाँव रख लेगी, कुछ कहा नही जा सकता। आचार्य श्री नानालालजी का जीवन सुख-दुख की धूप-छाँव मे-से गुजरता जीवन है-ऐसा जीवन जो कभी झरना है, तो कभी नदी, कभी समदर है, तो कभी मेघ, कभी धरती है, तो कभी आकाश, कभी कछुआ है, तो कभी खरगोश। उनका बहुआयामी जीवन लगभग सात दशको मे विस्तृत है— १९२० ई से १९९२ ई तक। रोशनदान अभी खुले है। नई रोशनी और ताजा हवा को आने की भरपूर अनुमति है। न कोई रूढि है, न कोई अन्धविश्वास, चारो ओर सत्य और सम्यक्त्व की चाँदनी छिटकी हुई है। तो आइये, हम इस मनीषी के परिवर्तनक्षम जीवन को अलग-अलग दशको मे देखते है।

एक

१९२० ई से १९३० ई तक के दस वर्ष खेलने-खाने के वर्ष है। मा की गोद, घर का आँगन, नदी का तट, आस-पास की पहाडियाँ और खेल-का-मैदान। दाता ग्राम मे नानालालजी (तब उन्हे 'नाना' ही कहा जाता था) के ये वर्ष परिजनो और बाल-सखाओ के बीच गुजरे। इस अल्पवय मे भी वे खेलते-खेलते स्वयं मे डूब जाते। अन्तरावलोकन की यह वृत्ति उनके जीवन मे आज भी है—अब बहुत गहरी बहुत एकाग्र, अत्यन्त तीव्र। सादगी, सारल्य, मैत्री, सदय, सहजता, प्रकृति-से-अनुराग वृद्धो की सेवा, एकान्त-प्रियता इनके शुरू से है। आठ वर्ष की उम्र मे पितृ-वियोग ने उन्हे सहिष्णु, कर्मठ, और अनासक्त बनाया। विधि की क्रूरता ने उनके भीतर मृदुल करुणा-के-स्रोत खोल दिये। वे जब भी किसी को व्यथित-विवश देखते आँखो मे आँसू लिये उसकी ओर दौड पडते। बूढी-दुर्बल मा-बहिनो के घडे उठा कर उनके घरो तक पहुँचा देना उनके लिए बहुत सामान्य था। यह तो उनके लगभग रोज ही होता था। मेमने-की-करुणार्द्र-पुकार तो उन्हे आज भी सुनाई देती है। स्वावलम्बन का पाठ उन्होने बचपन मे ही पढ लिया। वे अपने कामो के लिए कभी किसी का

महारा लेना जानते ही न थे। उन्होने सदैव–इसीलिए आज भी— 'अपना हाथ जगन्नाथ — माना। शिक्षा उनकी अधिक नही हुई। चौथी तक पढे।

दो

१९३७ से १९४० तक का दशक उनके जीवन का क्रान्तिकारी दशक सिद्ध हुआ। पहले उन्होने पैतृक व्यवसाय निभाया, किन्तु बाद को अपने चचेरे भाई श्री कन्हैयालाल के साथ व्यापार शुरू किया। मन नही लगा। चित्त उन्मन बना रहा। ज्योतिर्धर आचार्य जवाहरलालजी के सपर्क मे उन्हे सम्यक्त्व और सत्य की झलक मिली। किशोर वय की चचलताओ के बीच भी उनमे सम्यक्त्व का यह बीज पनपने लगा। उनके समागम से उनमे आध्यात्मिक अभिरुचि पैदा हुई। भीतर खलबली मची। सत्य और सम्यक्त्व उनके मुख-मण्डल पर कौधने लगे। भोपाल सागर (१९३३ ई) और भादसौडा (१९३७) उनके लिए क्रान्ति-स्थान साबित हुए। जो बालक मॉ के व्रताराधन की खिल्ली उडाता था, वह खुद एक चौथाई रोटी पर रहने लगा। वर्ष १९३८ मे दीक्षा-का-अकुर प्रस्फुटित हुआ। सच्चे गुरु के लिए वे छटपटा उठे। १९४० ई मे वैराग्य तरुण हुआ और कपासन मे उन्होने दीक्षा ले ली। जब जुलूस निकालने का प्रस्ताव हुआ तब मुकर गये। उनके विद्रोही चित्त ने रूढियो को कभी स्वीकार नही किया।

तीन

तीसरे दशक (१९४१-१९५०) मे उन्होने अपना आगम-ज्ञान बढाया। जम कर शास्त्राभ्यास किया। विनय, विवेक, सम्मान, स्वाध्याय और वैयावृत्त्य को जीवन का साथी बनाया। देखे तो ये सब आगम-ज्ञान के ही सुफल है। बगडी (१९४१) मे त्रिवेणी सगम हुआ। आचार्य श्री जवाहरलालजी, युवाचार्य श्री गणेशीलालजी और मुनि श्री नानालालजी का मिलन। उस महामिलन के निर्मल प्रतिबिम्ब उनके जीवन मे स्पष्ट देखे जा सकते है। वर्ष १९४८ मे गाडियो-मे-फँसे मेमने की प्राण-रक्षा उनके भीतर सयानी हो रही करुणा और अहिसा की ही निर्मल आकृतियाँ है। वर्ष १९४९ मे जयपुर-हिंडौन मार्ग पर करौली ग्राम मे हरिजन से हुई भेट पन्द्रह वर्षो बाद मध्यप्रदेश के बनबना ग्राम मे धर्मपाल-प्रवृत्ति के रूप मे अकुरित हुई। उस बीच उनके भीतर सास्कृतिक रोमथन चलता रहा।

चार

चौथा दशक (१९५१-१९६०) गुरु-सेवा, स्वाध्याय, आत्म-जागृति, साधना आदि मे व्यतीत हुआ। इस अवधि मे उनका जीवन स्वय सदेश बनने लगा। उनमे अन्तर्मुखता समृद्ध हुई। मन भीड से हटने लगा। व्यक्तित्व मे दृढता, सृजनधर्मिता और सत्यानुसधान की वृत्ति मुख्य बनी।

पांच

पांचवां दशक (१९६१-१९७०) उनके जीवन का सर्वाधिक हलचल वाला दशक सिद्ध हुआ। इस अवधि मे उन्हे अपने भीतर पैठने मे यथेष्ट सफलता मिली। युवाचार्य/आचार्य तो वे बने ही, स्वदेशी के प्रति उनकी निष्ठा, अहिंसा के प्रति अविचल आस्था, विज्ञान के प्रति गभीर रुझान आदि प्रवृत्तियां भी उनके जीवन मे जुडी। रायपुर (१९६५) मे शोधन की वृत्ति तीव्रतर बनी। मन्दसौर (१९६९) मे उनकी इस वृत्ति ने आध्यात्मिक मोड लिया और वह नये सामाजिक परिवेश की रचना मे प्रवृत्त हुई।

छह

पांचवे दशक मे जिस तरह धर्मपाल-प्रवृत्ति ने ठोस आकार ग्रहण किया, ठीक वैसे ही छठे दशक (१९७१-१९८०) के द्वितीय वर्ष मे समता-दर्शन प्रवर्तित हुआ। वस्तुत यह धर्मपाल-प्रवृत्ति का ही आध्यात्मिक सस्करण था, किन्तु इसमे व्यक्ति को भीतर से बदल कर समाज को शुद्ध करने का जो सकल्प था उसकी वजह से यह एक क्रान्तिकारी कदम सिद्ध हुआ। सरदार शहर (१९७४) मे उन्होने एकता का शखनाद किया और साम्प्रदायिक समन्वय के लिए तमाम पूर्वाग्रह छोडने की तैयारी बतायी। भोपालगढ (१९७६) मे आचार्य श्री हस्तीमलजी से हुआ उनका ऐतिहासिक मिलन एक अविस्मरणीय घटना है। जोधपुर मे उन्होने जो पचसूत्री देशना दी उसमे उनके गत पचपन वर्षो का अत्यन्त परिपक्व प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। ये सूत्र आगे चल कर जन-जागरण और सामाजिक क्रान्ति के प्रमुख आधार बने। इन्ही सृजनधर्मा/क्रान्तिकारी क्षणो मे उन्होने जन्मना महत्ता को नकारा और कर्मणा महत्ता को स्वीकार किया। भगवान् महावीर की वाणी को मैदान मे लाने का उनका यह उपक्रम पूरे देश के लिए क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। अजमेर (१९७९) मे उन्होने व्यक्ति-उत्थान के सूत्र दिये। व्यक्ति को आत्म-बोध की दिशा मे प्रवृत्त करने का यह अभिनव श्रीगणेश था।

सात

सातवाँ दशक (१९८१-१९९०) उनके जीवन का एक ऐतिहासिक दशक कहा जाएगा। १९८१ मे उन्होंने अपनी जन्मस्थली दाँता मे एक त्रिमुखीन अभियान प्रवर्तित किया। ब्रह्मचर्य-अभियान, दहेज-उन्मूलन-अभियान, आदिवासी-जागरण/व्यसन-मुक्ति अभियान। व्यसन-मुक्ति-अभियान का अकुर इन्दौर (१९८७) मे सस्कार-क्रान्ति का कल्पवृक्ष बना। दशकारम्भ मे आचार्यश्री का ध्यान आगम, प्राकृत, अहिंसा, समता पर गया। पूरे दशक वे अध्ययन/अनुसधान तथा अगम की मौलिकताओं को विवृत करने मे लगे रहे। जलगाँव (१९८६) को हम इन्दौर मे प्रवर्तित सस्कार-क्रान्ति की पृष्ठभूमि निरूपित कर सकते है। कानोड (१९८९) मे आचार्यश्री ने सस्कार-क्रान्ति मे शाकाहार के प्रचार-प्रसार को भी समाविष्ट किया। शाकाहार अहिंसा का ही रूपान्तर है। पिपलिया कलाँ (१९९१) में उन्होंने शिक्षित जैन युवावर्ग को धर्म और व्यसन-मुक्ति की दिशा मे लाने का सफल प्रयास किया।

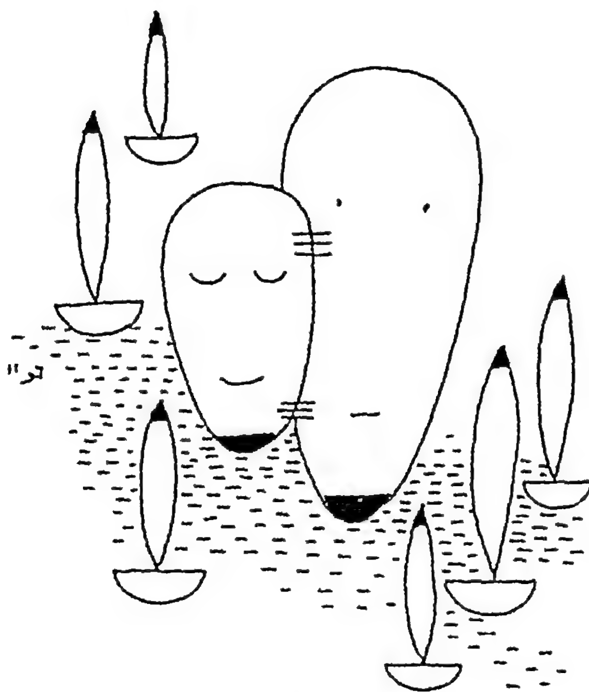


आठवे दशक (१९९१—) का सूरज अभी चढ रहा है। पिपलिया कलाँ (१९९१) मे समीक्षण-ध्यान को जिस तरह लोकप्रिय/समूहगत बनाने का प्रयत्न हुआ है उससे लगता है कि आचार्यश्री व्यक्ति-शुद्धि से समाज-शुद्धि की दिशा मे तेजी से अग्रसर है। यदि व्यक्ति का चित्त/उसकी चेतना शुद्ध होती है, तो निश्चित है कि समाज के शुद्ध होने मे देर नही लगेगी। □

प्रसंग

- क्रोध ओले की तरह गल गया
- मसान बना मकान
- धोरा दूध सी चादर
- हम स्वयं बनें अन्नदाता
- सुई की नोक में से भी निकल सकता है ऊँट
- भेंट को लिया अदब
- लोहे की लकीर

और सुनो, हम छुआछूत ज़रा भी नहीं मानते। भगवान् महावीर का कथन है कि कोई आदमी जन्म से नहीं, कर्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र होता है। जैसा वह करता है, उसी में से उसके होने की पहचान बनती है। तुम हरिजन नहीं हो, इन्सान हो।



१. क्रोध ओले की तरह गल गया

वर्ष १९४०। फलौदी का वर्षावास। मुनिश्री रतनलालजी मौन खड़े हैं। कुछ सोचते से। उनकी मुख-मुद्रा पर प्रशमरतित्व है। वैराग्य अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ उनके रोम-रोम में प्रकट हुआ है। वैसे वे स्वभाव के प्रखर हैं। अत्यन्त गुणान्वेषी। मन साफ है। झुंझलाहट जब-तब हो आती है। जब कभी कोई शिथिलता या प्रमाद देखते हैं, मन खिन्न हो उठता है और गुस्सा झनझना पड़ता है। ऐसे में वे स्वयं को सँभाल नहीं पाते हैं।

वे मौन खड़े हैं। सोच रहे हैं— यह जो नवदीक्षित साधु (नानालाल) है वह बड़ा विलक्षण पुरुष है। कभी कुछ बोलता ही नहीं है। जब भी देखता हूँ उसके चेहरे पर मुस्कराहट नृत्य-विभोर होती है। उसे देख लगता है जैसे कोई हरा-भरा खेत है और मन पर अपनी हरीतिमा बिखेर रहा है। कभी लगता है जैसे सावन-भादों की कोई सजल बदली बरसने आयी है। उसके मुख-मण्डल पर क्रोध तो कभी देखा ही नहीं। इस सुभग तरुणाई में इसने क्रोध को कैसे जीत लिया? देख रहा हूँ क्रोध इसके सामने एक विनम्र दास की तरह खड़ा है और यह मुस्करा रहा है। मैं सब पर क्रोध कर जाता हूँ, पर जब इसके सामने होता हूँ, पता नहीं तब क्रोध किस द्वार से निकल भागता है?

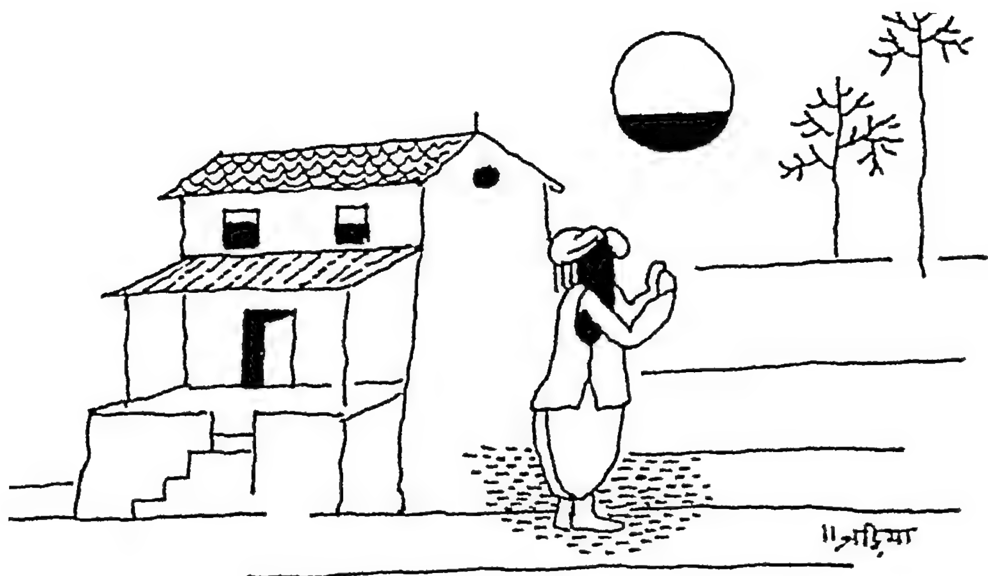
अद्भुत है यह व्यक्ति, विलक्षण है इसका व्यक्तित्व। जब देखो विनम्र, जहाँ देखो एक सस्मित मुख-मुद्रा।

यह नहीं भी होता है तो भी इसका चेहरा आठो याम मेरे साथ बना रहता है। कभी सोचता हूँ— इस पर क्रोध करूँ, किन्तु जैसे ही यह सामने आता है, क्रोध ओले की तरह गल जाता है। रोम-रोम गंगा-की-धार बन पड़ता है। तन-मन पर करुणा की अविरल/ शीतल धारा आ लगती है। सोचता हूँ यदि इसके साथ कुछ दिन और रहा तो क्रोध अपना रास्ता भूल जाएगा और मैं क्षमा-के-आकाश की तरह अन्तहीन आकिंचन्य में डुबकियाँ लेने लगूँगा।

पता नहीं कैसे, मन में बहुत गहरे, इसने मुझे बिन्दु-में-सिन्धु बना दिया है। क्या मैं इस पर और इसके रहते किसी अन्य पर क्रोध कर पाऊँगा

□□

कुछ दिनों बाद लोगों ने देखा कि रतनमुनिजी रत+न मुनिजी बन गये हैं। क्रोध के प्रति उनमें विरति उत्पन्न हुई। क्षमा ने उन्हें अभिषिक्त किया है। उनका संपूर्ण व्यक्तित्व ही बदल गया है। उनके चेहरे पर नवदीक्षित मुनिश्री की मुस्कराहट अठखेलियाँ करने लगी है— पर इससे क्या, नाना-प्रदीप की जोत कम हुई? नहीं, वह और बढ़ गयी। एक दीये से दूसरा दीया प्रज्वलित हो कर भी किसी दीये की जोत कम नहीं करता। क्षमा और तितिक्षा के दीप इसी तरह के दीप हैं। ■



२. कान बना मकान

वर्ष १९४९। जयपुरहिण्डौन मार्ग। करौली के आस-पास सूरज अस्ताचल की ओर झुक गया है। डूबते सूरज की लालिमा चारो ओर बिखरने लगी है। पेड-पौधे, नदी-पहाड, पशु-पक्षी सब शाम की इस लालिमा मे नहाये-से लग रहे हैं। पक्षी अपने घोसलो की ओर उडे आ रहे है। महाराजश्री अन्य साधुओ के साथ पास के एक ग्राम-सीमान्त पर खडे हैं। निकट ही मकान है। मकान के बाहर एक व्यक्ति बैठा है। कृशकाय, जीर्णशीर्ण वस्त्र। भारतीयता का ज्वलन्त प्रतिनिधि।

मुनिश्री पूछ रहे है— भाई, क्या यह मकान तुम्हारा है?

व्यक्ति कह रहा है— नही, ग्राम-पचायत का है।

मुनिश्री ने प्रश्न किया है— क्या तुम हमे रात-भर यहां ठहरने की आज्ञा दे सकोगे? व्यक्ति सकपका गया है। साधु और आज्ञा— वह ठीक से फैसला नही कर पा रहा है। सोच रहा है। ये तो हमारे पूज्य है। बहती नदी है। रमते योगी है। आज यहा, कल वहा। निर्मल जल। इन्हे किसी से क्या लेना और क्या देना। सकोच मे पडा बोला— महाराज, आज्ञा कैसे दे सकूंगा? आज्ञा और आप। असभव ।

मुनिश्री असमजस मे पड गये। उन्होने विनम्र स्वर मे कहा— भाई, हम तो रात-भर रहेगे। हमारे लिए तो बरामदा ही काफी होगा। तुम पर कोई बोझ नही डालेंगे।

व्यक्ति बोला— बोझ की कोई बात नही है महाराज, मकान खाली है। बिछौने मैं घर मे ले आऊँगा। लेकिन । लगा कुछ कहते-कहते कई शताब्दियाँ उसके गले मे अटक गयी हैं। उसने बहुत धीमे स्वर मे कहा— महाराज और कोई बात नही है, सिर्फ यह कि मैं हरिजन हूँ। महाराजश्री ने साश्चर्य कहा— तो इसमे क्या? हमारे लिए सब बराबर हैं।

व्यक्ति चमत्कृत खडा रहा। अचम्भे मे पडा बोला— तो क्या सचमुच आप एक हरिजन की आज्ञा से यहाँ ठहर जाएँगे?

मुनिश्री ने भरोसा दिलाया कि वे जात-पाँत को जन्म-की-अपेक्षा-से नही मानते और न ही छुआछूत मे उनका कोई विश्वास ही है।

हरिजन का चेहरा हर्षोल्लास मे खिल उठा। उसे लगा जैसे उसकी देहलीज पर कोई चिर-प्रतीक्षित सूरज आ खड़ा हुआ है और आने वाले किसी परिवर्तन की रश्मियाँ उसके मन-के-आँगन मे बिखेर रहा है। उसने सशंक पूछा— क्या आप मुझे अपने पैर छूने देंगे?

महाराजश्री ने कहा— वैसे मैं किसी से यह नही कहता कि तुम मेरे पैर छुओ, किन्तु यदि कोई छूता है तो मैं कोई एतराज़ नही करता। और सुनो, हम छुआछूत को जरा भी नही मानते। भगवान् महावीर का कथन है कि कोई आदमी जन्म से नही कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है। जैसा वह करता है, उसी मे-से उसके होने की कसौटी बनती है। तुम हरिजन नही हो, इन्सान हो।

हरिजन बन्धु की आँखे डबडबा आयीं। सदियों का कलुष-कल्मष आँसुओं के रूप में उसकी आँखों से बह निकला। उसे लगा जैसे अँधेरा भाग रहा है और रोशनी उसका द्वार खटखटा रही है। उसने मुनिश्री के पैर छुए। छूते-छूते उसे रोमांच हो आया। उसने जैनधर्म की सामान्य/गहन जानकारी ली और कहा महाराज, यहाँ के सात सौ गाँवों मे हजारों हरिजन हैं, जो एक ऐसे ही सवेरे की प्रतीक्षा कर रहे हैं। आजादी के बाद अभी रात बीती ही कहाँ है? बात यह है, हमे आजादी आधी रात को मिली थी और लगता है अभी वह रात खत्म नही हुई है। आप आये है तो लग रहा है कि आप अपने साथ कोई सुन्दर सवेरा लाये है।

□□

उसने पुन मुनिश्री के चरण छुए, तो लगा जैसे सम्पूर्ण मानवता के ललाट पर लगी कालिमा धुल गयी है और उसकी जगह मंगल प्रभात का कोई बाल सूर्य आ कर टँक गया है।



३. धोरा दूध री चादर

उदयपुर

३० सितम्बर १९६२।

सूरज गोखड का विशाल मैदान। ठमाठम। तिल रखने की भी जगह नहीं। आचार्यश्री गणेशीलालजी पाट पर आसीन है। उन्हे एक शुभ्र-धवल-शोभन चादर ओढाई गयी है।

चारों ओर गगनचुंबी जयघोष हुआ है। अब यही चादर नानालालजी महाराज को ओढाई जा रही है। चतुर्दिक् उल्लास की लहरें उमड पड़ी हैं।

सब कुछ रोमांचक है। जय-जयकार अनुगुंजित है। नानालालजी अब युवाचार्य-पद पर आसीन है। आचार्यश्री/युवाचार्यश्री चादर की महिमा-गरिमा बता रहे हैं। युवाचार्यश्री कह रहे है—'यह चादर नहीं है, गहन दायित्व है। मैं जैनधर्म को आलोकित करूँगा। उसका उज्ज्वल यश दिग्दिगन्त में व्याप्त होगा।'

जब नानालालजी को चादर ओढाई जा रही थी तब दो आँखें ऐसी भी थी जो अपने बेटे को नतशिर निर्निमेष निहार रही थी। उन आँखों में जगदम्बा शृंगारदेवी में जगज्जननी त्रिशला का सा मातृत्व घनीभूत हुआ था।

[illegible]

व्यक्ति बोला— बोझ की कोई बात नही है महाराज, मकान खाली है। बिछौने मैं घर से ले आऊँगा। लेकिन । लगा कुछ कहते-कहते कई शताब्दियाँ उसके गले मे अटक गयी हैं। उसने बहुत धीमे स्वर मे कहा— महाराज और कोई बात नही है, सिर्फ यह कि मैं हरिजन हूँ। महाराजश्री ने साश्चर्य कहा— तो इसमे क्या? हमारे लिए सब बराबर है।

व्यक्ति चमत्कृत खडा रहा। अचम्भे मे पडा बोला— तो क्या सचमुच आप एक हरिजन की आज्ञा से यहाँ ठहर जाएँगे?

मुनिश्री ने भरोसा दिलाया कि वे जात-पांत को जन्म-की-अपेक्षा-से नही मानते और न ही छुआछूत मे उनका कोई विश्वास ही है।

हरिजन का चेहरा हर्षोल्लास मे खिल उठा। उसे लगा जैसे उसकी देहलीज पर कोई चिर-प्रतीक्षित सूरज आ खडा हुआ है और आने वाले किसी परिवर्तन की रश्मियाँ उसके मन-के-आँगन मे बिखेर रहा है। उसने सशंक पूछा— क्या आप मुझे अपने पैर छूने देगे?

महाराजश्री ने कहा— वैसे मै किसी से यह नही कहता कि तुम मेरे पैर छुओ, किन्तु यदि कोई छूता है तो मैं कोई एतराज नही करता। और सुनो, हम छुआछूत को जरा भी नही मानते। भगवान् महावीर का कथन है कि कोई आदमी जन्म से नही कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है। जैसा वह करता है, उसी मे-से उसके होने की कसौटी बनती है। तुम हरिजन नही हो, इन्सान हो।

हरिजन बन्धु की आँखे डबडबा आयी। सदियो का कलुष-कल्मष आँसुओ के रूप मे उसकी आँखो से बह निकला। उसे लगा जैसे अँधेरा भाग रहा है और रोशनी उसका द्वार खटखटा रही है। उसने मुनिश्री के पैर छुए। छूते-छूते उसे रोमाच हो आया। उसने जैनधर्म की सामान्य/गहन जानकारी ली और कहा महाराज, यहाँ के सात सौ गाँवो मे हजारो हरिजन है, जो एक ऐसे ही सवेरे की प्रतीक्षा कर रहे है। आजादी के बाद अभी रात बीती ही कहाँ है? बात यह है, हमे आजादी आधी रात को मिली थी और लगता है अभी वह रात खत्म नही हुई है। आप आये है तो लग रहा है कि आप अपने साथ कोई सुखद सवेरा लाये हैं।

□□

उसने पुन मुनिश्री के चरण छुए तो लगा जैसे सपूर्ण मानवता के ललाट पर लगी कालिख धुल गयी है और उसकी जगह सगल प्रभात का कोई बाल सूर्य आ कर टंक गया है।



३. धोरा दूध री चादर

उदयपुर
३० सितम्बर १९६२।

सूरज गोखड़ा का विशाल मैदान। ठसाठस। तिल रखने की भी जगह नही। आचार्यश्री गणेशीलालजी पाट पर आसीन है। उन्हे एक शुभ्र-धवल-शोभन चादर ओढाई गयी है।

चारो ओर गगनचुबी जयघोष हुआ है। अब यही चादर नानालालजी महाराज को ओढाई जा रही है। चतुर्दिक् उल्लास की लहरे उमड पडी है।

सब कुछ रोमाचक है। जय-जयकार अनुगुंजित है। नानालालजी अब युवा चार्य-पद पर आसीन है। आचार्यश्री/युवाचार्यश्री चादर की महिमा-गरिमा बता रहे है। युवाचार्यश्री कह रहे है—'यह चादर नही है, गहन दायित्व है। मै जैनधर्म को आलोकित करूँगा। उसका उज्ज्वल यश दिग्दिगन्त मे व्याप्त होगा।'

जब नानालालजी को चादर ओढाई जा रही थी तब दो आँखे ऐसी भी थी जो अपने बेटे को लगातार निर्निमेष निहार रही थी। उन आँखो मे जगदम्बा शृंगारदेवी मे उज्ज्वलतो भविष्य का मातृत्व घनीभूत हुआ था।

[illegible]

माँ शृंगारबाई अब मात्र शृंगारबाई कहाँ थी—उनके भीतर, विजया, सेना, सिद्धार्था सुमंगला, शिवदेवी, वामा, त्रिशला प्राय सभी का मातृत्व और उनकी अपरंपार वत्सलता जीवन्त हुई थी। माँ की आँखो के मंच पर नाना के जन्म से अब तक के सारे दृश्य एक साथ उपस्थित हुए थे। पास-पडोस मे बैठे लोगो ने सुना— मेरा नाना इतना बडा हो गया है! अरे, इसने तो चादर ओढ ली है!!! क्या यह सरल मन बालक युवाचार्य की गरिमा संभाल पायेगा? कही ऐसा न हो कि यह अपने भोलेपन मे हार जाए?'

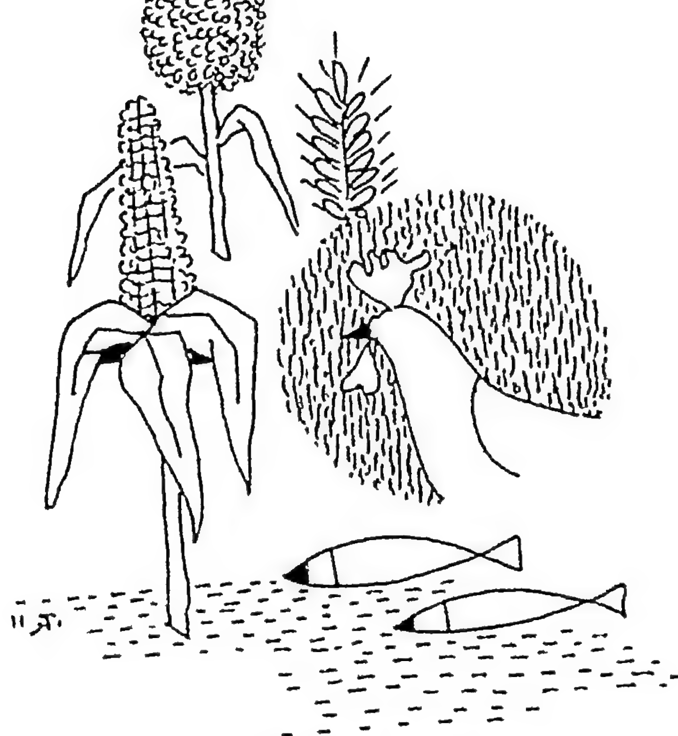
शृंगारबाई की आँखे आँचल बनी हैं। लग रहा है जैसे आँखो से हो कर दूध की धवल धार पाटासीन युवाचार्य का अजस्र अभिषेक कर रही है।

दाँता मे आ कर भी इस क्षण वह दाँता मे ही है। वही घर, वही आँगन, वही 'नाना', वही किलकारियाँ, वही चहलकदमियाँ—बडा मर्मस्पर्शी दृश्य है।

समारोह संपन्न हुआ है। शृंगारबाई आचार्यश्री से उनकी सुखसाता पूछ रही हैं। आचार्यश्री कह रहे हैं—'कई माँजी, बेटा महाराज का दर्शन कर लीधा? अबे ई 'नाना' नाना नी र्‍या, घणा मोटा'र वेइग्या है।' (क्या माँजी, बेटा महाराज के दर्शन कर लिये? अब यह नाना छोटा नही रहा है, बहुत बडा हो गया है।) माँ की ममता आँसू बनी कह रही है—'अन्नदाता, ई घणा भोला टाबर है, याँ पे अतरो बोझो मती नाखो।' (प्रभो, यह बडा भोला बालक है। इस पर इतना वजन मत डालो।) फिर माँ ने युवाचार्य को अपलक सजल आँखो से देखा है। वह निहाल हुई है। उसकी आँखो को नवनिधियाँ मिल गयी है। भला उसे अब क्या करना चाहिये? वह अवाक् है और दोनो अंजलियों से खुशियों का दरिया अनथक उलीच रही है। उसने अपने बेटे की ओर मुड कर देखा और बोली—'म्हारा धोरा दूध री अणी चादर मे कालो दाग मत लगाइजो' (बेटे, मेरे धवल-शुभ्र दूध की इस चादर पर कोई काला दाग मत आने देना)। और पता नही, कब/कैसे युवाचार्य के नेत्रो मे कबीर का यह पद अक्षरश निनादित हो उठा—

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै ताना काहे कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया॥
सो चादर सुरनर मुनि ओढिन, ओढि कै मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर * जतन से ओढिन, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया॥

*इस पद में दास कबीर की जगह 'नाना मुनी' या 'मैंने मुद' को रख कर इसका अलौकिक रसास्वाद ले सकते है।



४. हम स्वयं बने अन्नदाता

थादला। मध्यप्रदेश का एक भिल्लग्राम। मिली-जुली बस्ती। युगपुरुष आचार्यवर जवाहरलालजी का जन्मस्थल। १९६३।

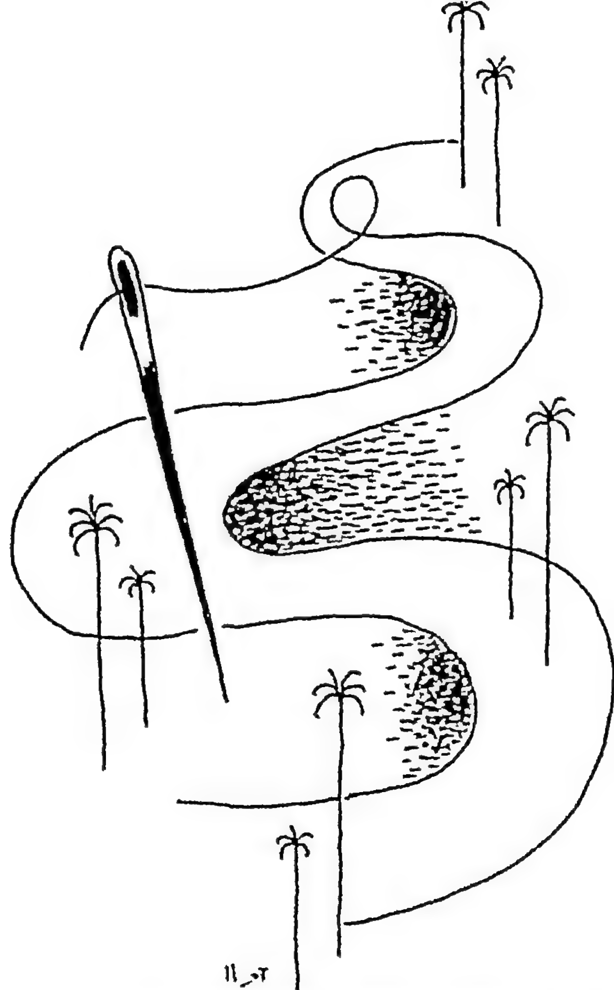
भीलों के जीवन को नयी आशा और आलोक देने वाले मामा बालेश्वरदयाल आचार्यश्री से चर्चा कर रहे हैं। अन्न-समस्या का मुद्दा है। भारत विशाल है। यह विषमताओं में समता की धरती है। विषमताओं और विविधताओं ने भी इस अद्भुत-अपूर्व ढंग को अभिमण्डित किया है। सब अलग, सब एक। अनेकता में एकता धड़कती है यहां प्रतिपल, प्रतिपग।

मामा कह रहे हैं—'आप मांसाहार का त्याग कराते हैं। अहिंसा को आधार बना कर ऐसा करना उचित नहीं है। भारत एक गरीब देश है। मांसाहार छोड़ कर तो वह कहीं का नहीं रहेगा। इसकी अर्थव्यवस्था चरमरा जाएगी।

आचार्यश्री गंभीर हुए हैं। उन्होंने समस्या को गहराई में समझा है।

बोले—'आपका सोचना एकागी है। आपकी यह धारणा भ्रान्त है कि मांसाहार से अन्न-समस्या हल हो सकती है। सोचिये, जिन पशुओ के वध से मास प्राप्त होता है, उन पर कितना खर्च होता है? क्या अमीर देश आर्थिक लाभ के लिए लाखो टन अनाज समुद्र मे नही फेंक रहे है? क्या मांसाहार से सात्त्विक भावनाएँ पैदा हो सकती है? इस समस्या के समाधान के लिए मै आपको एक रचनात्मक/अहिंसक प्रयोग बताता हूँ। देश की वर्तमान आबादी चालीस-पचास करोड है, जिसमे दस-पन्द्रह करोड बच्चे है। इन्हे कम कर लीजिये। बाकी तीस-पैंतीस करोड बचे। इतनी आबादी के लिए एक दिन मे पन्द्रह-बीस करोड टन अनाज चाहिये यदि हम अपने देश को जगाये और उसे साप्ताहिक उपवास के लिए तैयार करे तो क्या अन्न-समस्या का समाधान नही होगा?

मामा के गले बात उतर गयी। उनका मन आचार्यश्री के चरणों मे श्रद्धा से झुक गया। उल्लसित हो कर उन्होंने आदिवासी भाई-बहिनो को आचार्यश्री का सान्निध्य दिया और भिल्ल-लोकजीवन को सात्त्विकता और व्यसन-मुक्ति की दिशा मे अग्रसर किया। हजारो भीलो ने व्यसन छोडे और वे भारत की अहिंसक संस्कृति की मुख्य प्राणधारा मे सम्मिलित हुए।



५. सुई की आँख में से निकल सकता है ऊँट

वदनावर से आगे कानवन। १९६३।

आचार्यश्री के सामने मुनि अमरचंदजी खड़े हैं। उनसे किंचित् प्रमाद हुआ है। बोले—'आज सुबह एक श्रावक से सुई लाया था, जो धर्मस्थान में ही रह गयी। लौटा नहीं पाया। हम लोग लगभग चार मील आगे आ गये हैं। आप आदेश दें—क्या करूँ?'

आचार्यश्री ने तुरन्त कहा—'इसमें क्या सोचना है? किसी श्रावक को साथ लो और सुई ढूंढ कर लौटा दो। भगवान् महावीर ने कहा है—समयं गोयम मा पमायए (गौतम एक समय * का भी प्रमाद मत करो)।'

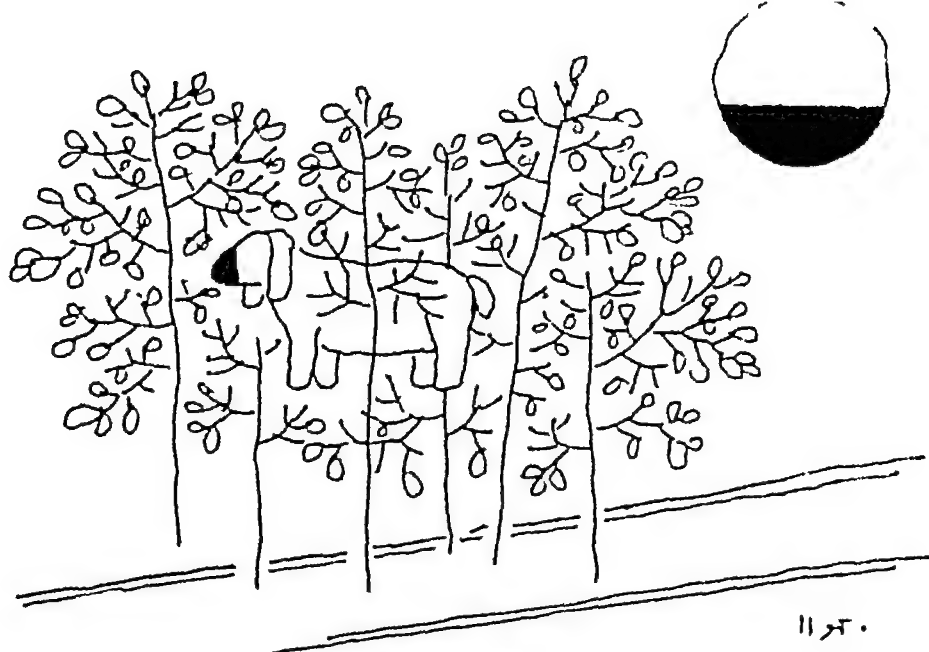
उपस्थित श्रावकों ने निवेदन किया—'आप इन्हें आठ मील का चक्कर न दें। हम लोग दूर निकल आये हैं। वापस आ कर हम सुई अवश्य लौटा देंगे।' '

आचार्यश्री ने हँसते हुए कहा—'आपकी भावना प्रशस्त है, किन्तु हमारा संयमी जीवन इसकी अनुमति नहीं देता। संयम की अपनी मर्यादाएँ हैं। हम अपना काम खुद न करें, अन्यों से करवायें—यह ठीक नहीं है। एक सामान्य शिथिलता, एक मामूली मर्यादा-भंग किसी भी समय बड़ा आकार ग्रहण कर सकता है। सुई तो अमरचंदजी को खुद ही लौटानी है। सुविधाएँ दुविधाओं को जन्म देती हैं। जैन साधु सुविधाभोगी नहीं है। वह प्रतिपल अप्रमत्त-सजग है। अनुपल जागृत, अनुक्षण सावधान।'

जैसे ही अमरचंदजी ने सुना, वे चल दिये। सुई लौटायी और लौट कर संघ-विहार में सम्मिलित हो गये।

सूरज ने यह सब देखा। डूबने से पहले उसने आचार्यश्री की चरण-रज अपने माथे पर ली और साधु-संघ की साष्टांग वन्दना की तथा अमरचंदजी की तरह अस्ताचल की ओर अप्रमत्त मुड़ गया।

*मन्दगति से एक परमाणु को लोकाकाश-स्थित एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाने की अवधि।



६. मेमने को मिला अभय

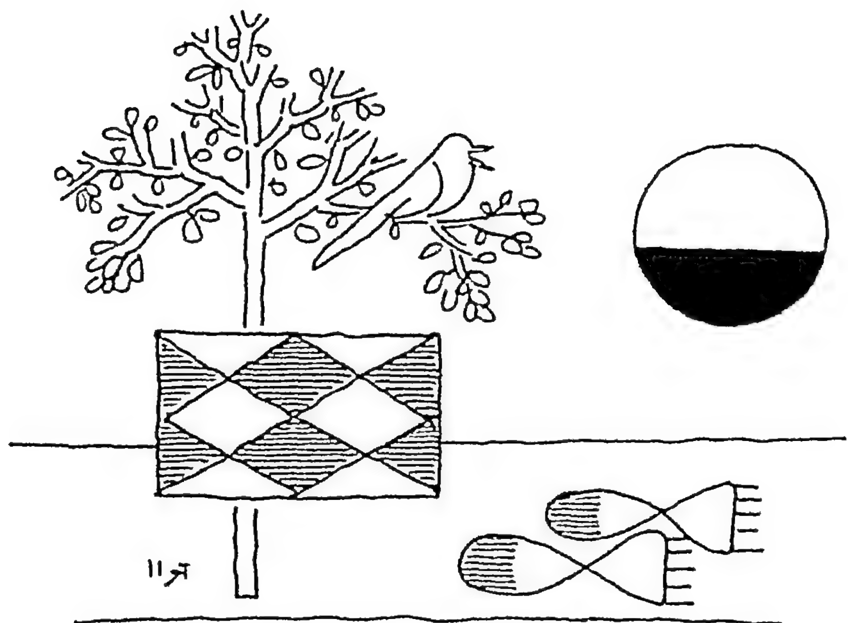
१९४४ ई।

मेवाड का एक कस्बाई ग्राम बम्बोरा। शाम का समय। सूरज अभी अस्त नही हुआ है। झुटपुटा होने को है। आचार्यश्री पास की एक पहाडी पर शुद्धि के लिये गये हैं। निवृत्त हो कर लौट रहे है। सजग, सावधान, अप्रमत्त। पास की झाडियो मे कोई मेमना कराह रहा है। देखा तो पता चला कि वह एक किशोर मेमना है और नाले मे फैली जडो मे उलझ गया है। इधर-उधर आँखे दौडायी। सुनसान। सन्नाटा। कोई नही। पसोपेश। क्या करे, क्या न करे। यदि साधु-मर्यादा का पालन करते है तो मेमने की जान जाती है और नही करते हैं तो लोक-मर्यादा/आगम-मर्यादा टूटती है। किसी को लाये तब तक सूरज डूब जाएगा।

वे दो पल रुके।

तुरन्त निर्णय लिया कि अहिंसा का मार्ग ही सर्वोत्तम है। करुणा के जल ने उनके मन-मानस को अभिषिक्त किया और उन्होंने मेमने को सहारा दिया। उस समय मेमने की आंखो मे कृतज्ञता की जो दीप्ति थी, वह देखने जैसी थी। लगा जैसे किसी ईसा ने मेमने को सहारा दे कर मानवता को करुणा का सदेश दिया है। लगा जैसे किसी सुकरात ने विषपान किया है।

आचार्यश्री मेमने को अपने साथ ले आये। गाँववालो को पूरी घटना सुनायी। सब रोमाचित। सब गद्‌गद्। उन्हे अहिंसा की नयी इबारत मिल गयी। उन्हे लगा—साधु हो या गृहस्थ, आत्मा की पुकार सबसे पहले। जीव-रक्षा सर्वप्रथम। चाहे जो हो, यदि दुनिया की कोई धडकन खिन्न-विपन्न है तो हमारा कर्तव्य है कि हम हर काम छोड कर पहले प्राण-रक्षा के लिए दौडे। ऐसा करने के लिए हमे जो भी त्याग करना पडे, करे। रूढियों के दास न बने। वरन् औचित्य और सम्यक्त्व को देखे तथा रूढियो को अपना दास बनाये।



७. लोहे की लकीर

१९६३ ई।
उदयपुर। मंगल विहार के पूर्व क्षण।

आचार्य-पद पर आसीन होने के बाद नानालालजी महाराज ने उदयपुर से विहार करना चाहा।

प्राची मे सूरज अभी कुछ ऊपर उठा ही था कि आचार्यश्री विहार के निमित्त निकल पड़े। इधर सूरज अपने पाँव तेजी से उठा रहा था, उधर आचार्यश्री ससंघ। दोनो मे होड़ थी। आचार्यवर तैयार हुए ही थे कि श्रावको ने कहा—'महाराज, आप जिस दिशा की ओर कदम उठा रहे हैं, उस ओर दिशाशूल है। कोई भी संकट आ सकता है। असल मे मुहूर्त उपयुक्त नही है।'

आचार्यश्री का मन-मानस आरम्भ से ही रूढ़िमुक्त रहा है। उन्होंने अंधविश्वास को कभी माना ही नहीं। वे कहा करते—'भला होनी को कौन टाल सकता है। साधु साधु है। वह निष्काम है। उसे लौकिक कुछ करना नहीं है। दिव्यताओं के लिए किस मुहूर्त की जरूरत है?' बोले—'मैं आपकी शुभकामनाओं का सम्मान करता हूँ। आपके आग्रह का ध्यान रख कर मैं

अपना कार्यक्रम बदल भी देता; किन्तु मैं अपनी साधु-भाषा मे आश्वासन दे चुका हूँ, अत. बाध्य हूँ। समझ लीजिये साधु-भाषा लोहे की लकीर होती है। वह जल या रेत की लकीर नही है कि जिसे हवा का कोई झौंका मिटा दे। वह अटल-अविचल मार्ग है। एक बार हमारे मुख से जो भी निकल गया, उसे हमे करना ही है।

ज्योतिषी ने समीक्षा की। तर्क दिये। बहुत प्रयत्न किये, किन्तु आचार्यवर अडिग बने रहे। बोले—'मेरे लिए सब अच्छा है। कोई रास्ता नही बदलना है। वही पथ, वही पग, वही पथिक।' और वे वेग से चल दिये।

कोई विघ्न नही, कोई सकट नही, कोई विपदा नही। सबकुछ स्निग्ध, सानन्द, निष्कण्टक, निरापद।

चातुर्मास



रतलाम १९६३। लगभग १,५०० बलाई कुटुम्ब के करीब १०,००० व्यक्तियों के जीवन में सामाजिक क्रान्ति की प्रखर किरण का प्रवेश, हृदय-परिवर्तन की जीवन्त मिसाल। आचार्यश्री ने कहा—'आप मांस, मदिरा, शिकार, वेश्या-गमन, आत्महत्या आदि दुर्व्यसनों का प्राणपण से पूर्णरूपेण त्याग करें तो उन्नति हो सकती है, बलाई जैन बने और उन्होंने उपदेश मान कर प्रगति की। आज उनकी संख्या लगभग एक लाख है। सब समृद्ध और सुखी हैं।

चातुर्मास*

कुल— ५३, साधु-कालीन— २३, आचार्य-पदोपरान्त— ३०, साधुकाल के चातुर्मास— राजस्थान— १९, दिल्ली— २, मध्यप्रदेश— २, प्रथम— फलौदी (राजस्थान), तेईसवां— उदयपुर (राजस्थान)।

१	फलौदी (राजस्थान)	१९४० ई/विम १९९७
२	बीकानेर (राजस्थान)	१९४१ ई/विम १९९८
३	ब्यावर (राजस्थान)	१९४२ ई/विस १९९९
४	बीकानेर (राजस्थान)	१९४३ ई/विस २०००
५	सरदार शहर (राजस्थान)	१९४४ ई/विस २००१
६	बगडी (राजस्थान)	१९४५ ई/विस २००२
७	ब्यावर (राजस्थान)	१९४६ ई/विस २००३
८	बडी सादडी (राजस्थान)	१९४७ ई/विम २००४
९	रतलाम (मध्यप्रदेश)	१९४८ ई/विस २००५
१०	जयपुर (राजस्थान)	१९४९ ई/विस २००६
११	दिल्ली	१९५० ई/विस २००७
१२	दिल्ली	१९५१ ई/विम २००८
१३	उदयपुर (राजस्थान)	१९५२ ई/विम २००९
१४	जोधपुर (राजस्थान)	१९५३ ई/विम २०१०
१५	कुचेरा (राजस्थान)	१९५४ ई/विस २०११
१६	बीकानेर (राजस्थान)	१९५५ ई/विस २०१२
१७	गोगोलाव (राजस्थान)	१९५६ ई/विम २०१३
१८	कानोड (राजस्थान)	१९५७ ई/विम २०१४
१९	जावरा (मध्यप्रदेश)	१९५८ ई/विम २०१५
२०	उदयपुर (राजस्थान)	१९५९ ई/विम २०१६
२१	उदयपुर (राजस्थान)	१९६० ई/विम २०१७
२२	उदयपुर (राजस्थान)	१९६१ ई/विम २०१८
२३	उदयपुर (राजस्थान)	१९६२ ई/विम २०१९

*साधु-कालीन चातुर्मास।

चातुर्मास*

(कुल)—३०, १९६३ ई— १९९२ ई, (राजस्थान)—१६, (मध्यप्रदेश)—८, (महारा[ष्ट्र]
(गुजरात)—२, प्रथम— रतलाम (मध्यप्रदेश) तीसवाँ— उदयरामसर (राजस्थान)

१	रतलाम (मध्यप्रदेश)	१९६३ ई/वि.स २०२०
२	इन्दौर (मध्यप्रदेश)	१९६४ ई/वि स २०२१
३	रायपुर (मध्यप्रदेश)	१९६५ ई/वि स २०२२
४	राजनांदगांव (मध्यप्रदेश)	१९६६ ई/वि स २०२३
५	दुर्ग (मध्यप्रदेश)	१९६७ ई/वि स २०२४
६	अमरावती (महाराष्ट्र)	१९६८ ई/वि स २०२५
७	मन्दसौर (मध्यप्रदेश)	१९६९ ई/वि स २०२६
८	बडी सादडी (राजस्थान)	१९७० ई/वि स २०२७
९	ब्यावर (राजस्थान)	१९७१ ई/वि स २०२८
१०	जयपुर (राजस्थान)	१९७२ ई/वि स २०२९
११	बीकानेर (राजस्थान)	१९७३ ई/वि.स २०३०
१२	सरदार शहर (राजस्थान)	१९७४ ई/वि स २०३१
१३	देशनोक (राजस्थान)	१९७५ ई/वि स २०३२
१४	नोखामण्डी (राजस्थान)	१९७६ ई/वि स २०३३
१५	गंगाशहर-भीनासर (राजस्थान)	१९७७ ई/वि स २०३४
१६	जोधपुर (राजस्थान)	१९७८ ई/वि स २०३५
१७	अजमेर (राजस्थान)	१९७९ ई/वि स २०३६
१८	राणावास (राजस्थान)	१९८० ई/वि स २०३७
१९	उदयपुर (राजस्थान)	१९८१ ई/वि स २०३८
२०	अहमदाबाद (गुजरात)	१९८२ ई/वि स २०३९
२१	भावनगर (गुजरात)	१९८३ ई/वि स २०४०
२२	बोरीवली-बम्बई (महाराष्ट्र)	१९८४ ई/वि स २०४१
२३	घाटकोपर-बम्बई (महाराष्ट्र)	१९८५ ई/वि स २०४२
२४	जलगांव (महाराष्ट्र)	१९८६ ई/वि स २०४३
२५	इन्दौर (मध्यप्रदेश)	१९८७ ई/वि स २०४४
२६	रतलाम (राजस्थान)	१९८८ ई/वि स २०४५
२७	रानीवाड (राजस्थान)	१९८९ ई/वि स २०४६
२८	चित्तौडगढ (राजस्थान)	१९९० ई/वि स २०४७
२९	पिपलियाकलाँ (राजस्थान)	१९९१ ई/वि स. २०४८
३०	उदयरामसर (राजस्थान)	१९९२ ई/वि स २०४९

*[illegible]

[illegible]

चातुर्मासिक 'उपलब्धियाँ

१९४०-१९९२

एक . फलौदी-१९४०, साधु-जीवन का प्रथम वर्षायोग, तितिक्षा/क्षमाशीलता का सघन अभ्यास, सयम-साधना, अप्रमत्त स्वाध्याय, अ-क्रोध तप।

दो बीकानेर-१९४१, आत्म-शोधन, सेवा, ज्ञान, स्वास्थ्य की साधना, वयोवृद्ध सतो की सेवा-परिचर्या, शरीर गौण, साधना मुख्य, धृति, विनयशीलता, और सहिष्णुता की मौन उपामना।

तीन व्यावरा-१९४२, अध्ययन के साथ प्रवचन, दृढता और अविचलता का विकास।

चार बीकानेर-१९४३, 'सिद्धान्त कौमुदी' का अध्ययन, प्रज्ञ/मनीपी सतो का मत्सग।

पाँच . सरदार शहर-१९४४, सिद्धान्त और आचरण की दूरियाँ अनवरत कम।

छह बगडी-१९४५, कथनी-करनी मे एकरूपता का विलक्षण विकास।

सात व्यावरा-१९४६, गुरु-सेवा, अध्ययन, साधना।

आठ · वडी सादडी-१९४७, गुरु-मेवा, मयम, स्वाध्याय, मत-सत्सग।

नौ रतलाम-१९४८, साधु-मर्यादा कसौटी पर, फँमी हुई भेड को सहारा, चातुर्मास-ममाप्ति पर इन्दौर म सर्वोदयी सत विनोवा भावे से भेट, विनोवाजी ने कहा—'आप सोचते होंगे कि जैनियो की सख्या बहुत कम है, किन्तु मेरी धारणा के अनुसार 'जैन' नाम धराने वालो की मख्या भले ही कम हो लेकिन जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त दूध-मिश्री की तरह दुनिया की सभी विचार-धाराओ मे घुलते जा रहे है।'

दस जयपुर-१९४९; न्याय (तर्कशास्त्र) का अध्ययन, सिद्धान्त और व्यवहार मे दृढता, मूर्च्छा की उत्तरोत्तर अनुपस्थिति, जयपुर-हिण्डौन मार्ग पर करौली के आस-पास 'धर्मपाल-प्रवृत्ति' का वीजाकुरण।

ग्यारह . दिल्ली-१९५०, गुरुदेव का मघन मान्निध्य, रुग्णता; जिह्वाजय।

बारह दिल्ली-१९५१, घाणेराव/सादड़ी में साधु-सम्मेलन का सूत्र-संचालन, सब्जीमण्डी में वर्षावास, पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ।

तेरह उदयपुर-१९५२, इंजेक्शन लगाना सीखा ताकि संकटापन्न स्थिति में गुरुदेव की परिचर्या में कोई कमी न हो, गुरुदेव का अम्लान वैयावृत्त्य।

चौदह जोधपुर-१९५३, गुरु-सेवा, अम्लान सेवाशुश्रूषा, अनन्य निष्ठा, अविचल आस्था, ज्ञान-ध्यान।

पन्द्रह कुचेरा-१९५४, गुरुदेव को सहयोग।

सोलह बीकानेर-१९५५, आचार्यश्री की सेवा-शुश्रूषा।

सत्रह गोगोलाव-१९५६, गुरुदेव का सान्निध्य, उनकी सन्निष्ठ सेवा, स्वाध्याय।

अठारह कानोड़-१९५७, गुरुदेव को सहयोग, सेवा-शुश्रूषा, साधना, अध्ययन।

उन्नीस जावरा-१९५८, गुरुदेव का सान्निध्य, उनकी अनन्य शुश्रूषा, स्वाध्याय।

बीस उदयपुर-१९५९, निष्काम चित्त से गुरु का वैयावृत्त्य, अहर्निश जागृत साधना।

इक्कीस उदयपुर-१९६०, गुरु की सेवा-शुश्रूषा, संयम-साधना, स्वाध्याय; मनन-चिन्तन।

बाईस उदयपुर-१९६१, गुरुदेव द्वारा चतुर्विध संघ की सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व प्रदान, १८ अप्रैल १९६१/अक्षय तृतीया को सार्वजनिक घोषणा, निष्काम मनीषा और अविचल आस्था के धनी पर श्रमण-संस्कृति की रक्षा और उसके अभिसाधन की गहन जिम्मेवारी, संयम-साधना के साथ सामाजिकता का मौन उद्भव।

तेईस उदयपुर-१९६२, आचार्य श्रीहुक्मीचन्दजी की पाट-परम्परा का पुनरुज्जीवन, २२ सितम्बर १९६२ को 'युवाचार्य' घोषित, ३० सितम्बर को युवाचार्य-पद की चादर से अलंकृत, चादर-प्रदान-समारोह में पूज्या माता श्रीमती शृंगारीबाई की सोल्लास उपस्थिति, उनका यह अजर-अमर वाक्य—'अन्नदाता! ई घणा भोला टाबर है, या पर अणगो बोझो मती

नाको' (प्रभो, यह बहुत भोला-भाला लडका है, इस पर इतनी बडी जिम्मेवारी न डालिये)। चादर की गौरव-गरिमा को स्पष्ट करते हुए युवाचार्य ने कहा—'यह चादर एक शुभ भावना की प्रतीक है। शुभ भावनाएँ उज्ज्वल होती हैं और यह चादर भी उज्ज्वल/खादी की हो कर सादी है। सादगी स्वतन्त्रता की द्योतक है। पूज्य गुरुदेव फरमाया करते हैं कि सादगी स्वतन्त्रता है और फैशन फाँसी, अत भारत को इस सादगी की ओर विशिष्ट ध्यान देना चाहिये', विलक्षण नाडी-ज्ञान, ९ जनवरी १९६३ को गुरुदेव की नाडी मे आशकित परिवर्तन, सथारा पच्चखान का आयोजन, आचार्यश्री गणेशीलालजी का महाप्रयाण, 'आचार्य-पद' पर प्रतिष्ठित, प्रथम शिष्य सेवन्तमुनिजी, अन्धविश्वास की मिथ्या/अन्धी परम्पराओ का उन्मूलन।

चौबीस रतलाम-१९६३, जावद, जावरा, और रतलाम सघो के बीच समरस सम्बन्धो की स्थापना, स्वरूप-बोध के प्रति विशेष जागृति, ऐतिहासिक सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात, गुजराती बलाई समाज के मुखिया सीतारामजी बलाई से भेट, 'धर्मपाल-प्रवृत्ति' का श्रीगणेश, गुजराती बलाइयो के छोटे-छोटे गाँवो मे सघन विहार, लगभग १,५०० बलाई-कुटुम्बो के लगभग १०,००० व्यक्तियो के जीवन मे सामाजिक क्रान्ति की प्रखर किरण का प्रवेश, हृदय-परिवर्तन की जीवन्त मिसाल, आचार्यश्री ने कहा—'आप मास, मदिरा, शिकार, वेश्यागमन, आत्महत्या आदि दुर्व्यसनो का प्राणपण मे पूर्णरूपेण त्याग करे तो उन्नति हो सकती है', बलाई जैन बने और उन्होने उनका उपदेश मान कर प्रगति की, आज उनकी सख्या लगभग एक लाख है, सब सुसमृद्ध और प्रसन्न हैं।

पच्चीस इन्दौर-१९६४, रचनात्मक/अहिंसक क्रान्ति के प्रवर्तक सत का अभिनव रूप, अविस्मरणीय वाक्य-मणि—'किसी भी बात को हमे मान-सम्मान का विषय नही बनाना चाहिये'।

छब्बीस रायपुर-१९६५, आध्यात्मिक उत्क्रान्ति और आत्म-शोधन का चातुर्मास।

सत्ताईस राजनांदगाँव-१९६६, पाच मास का चातुर्मास, आत्म-शोधन, सामाजिक क्रान्ति का सातत्य, 'तीर्थ' शब्द की तर्कसगत व्याख्या, कहा-'असली तीर्थ चार है—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका'।

अट्ठाईस : दुर्ग-१९५७: भारतीय जिज्ञासाओं के गंभीर समाधान, आत्म-जागृति, सामाजिक क्रान्ति की [illegible]।

उनतीस : [illegible]-१९५८, [illegible], '[illegible]' विषय पर [illegible] प्रवचन।

तीस : [illegible]-१९५९, सद्भावना का प्रसार, नये परिवेश का सृजन।

इकतीस : बड़ी सादड़ी-१९६०, दीक्षाएँ; [illegible], सामाजिक क्रान्ति की उन्नीस प्रतिज्ञाओं के अमल के लिए [illegible] के [illegible] का [illegible], महत्वपूर्ण प्रतिज्ञाएँ हैं क्र. ७,८,९,१,१३, और १७; विवाह में कोई [illegible] नहीं होगी, मृत्यु के बाद एक साल से अधिक शोक नहीं रखा जाएगा, [illegible] में [illegible], विवाह आदि अवसरों पर [illegible] आदि पर अनावश्यक खर्च नहीं करना, आध्यात्मिक आहार हेतु धार्मिक पुस्तकों का [illegible] करना।

बत्तीस : [illegible] १९६१, [illegible], [illegible], '[illegible]' [illegible] के [illegible] में [illegible], [illegible] के प्रधान [illegible] की [illegible], [illegible] विषय पर [illegible]।

तैंतीस : [illegible]-१९६२, [illegible] दर्शन का [illegible]।

चौंतीस : [illegible] १९६३, आध्यात्मिक क्रान्ति का [illegible], आत्म-जागरण, कुरूढ़ियों की निवृत्ति।

अड़तीस गगाशहर-भीनासर-१९७७, दीक्षाएँ, धर्मोपकार के कार्य।

उनचालीस . जोधपुर-१९७८, नगर-प्रवेशश से पूर्व उपनगर सरदारपुर मे पचसूत्री उपदेश, जन-जागृति और सामाजिक क्रान्ति के लिए रचनात्मक दृष्टिकोण की प्रस्तुति, पाँच सूत्र— समानता मे आस्था, गुण-कर्म-आधारित वर्गीकरण मे भरोसा, व्यक्तिगत जीवन-शुद्धि का अभ्यास, गरीब-अमीर की विभाजक सामाजिक कुरीतियो का परित्याग, नियमित दिनचर्या-पूर्वक समता-भाव की साधना।

चालीस अजमेर-१९७९, धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, सास्कृतिक, शैक्षणिक उत्क्रान्ति की ठोस पहल, अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष के उपलक्ष्य मे बाल-शिक्षा पर अखिल भारतीय सगोष्ठी, लेखक भी सम्मिलित।

इकतालीस राणावास-१९८०, आध्यात्मिकता का नवप्रस्फुटन, चिन्तन के नौ सूत्रो का प्रवर्तन, सूत्र हैं—चैतन्य चिन्तन— यह कि 'कौन हूँ, कहाँ से हूँ, किसलिए हूँ, क्या कर रहा हूँ', मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, दुर्लभ मानव-देह का लक्ष्य क्या है, समभाव का चिन्तन, अमानवीय भाव और कटु वचनो का त्याग, विभाव-त्याग, स्वभाव-बोध, सुदेव, सुगुरु, सुधर्म, अहिमा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और स्याद्वाद आत्मोन्नति के मूल हैं, स्व-रूप की पहचान, सम्यक् विधि से जीवन की उन्नति।

बयालीस. उदयपुर-१९८१, जन्मभूमि दाँता मे आगमन, ज्ञान-माधना/तपाराधना, समीक्षण-ध्यान के प्रायोगिक पक्ष का विकास, त्रिमुखीन अभियान की प्रेरणा- १ ब्रह्मचर्यव्रत—अभियान, २ दहेज-उन्मूलन-अभियान, ३. आदिवासी जागरण, तथा दुर्व्यसन-मुक्ति-अभियान; आगम, अहिसा, समता एव प्राकृत सस्थान की स्थापना।

तैतालीस· अहमदाबाद-१९८२, गुजराती सम्प्रदायो के आचार्य/सत-सती से मिलन, श्रावको द्वारा छहसूत्री योजना की प्रस्तुति, समीक्षण-ध्यान पर प्रवचन लगभग ७ पुस्तके गुजराती भाषा मे प्रकाशित, ये हैं—समता दर्शन और व्यवहार, समीक्षण और ध्यान, प्रयोग-विधि, साधना के सूत्र, आचार्य नानेश एक परिचय, समता-क्रान्ति, अनुभूति नो आलोक, आचार्य श्री नानेश गुजरात-प्रवास एक झलक।

चवालीस भावनगर-१९८३, अनुशासन की प्रेरणा, धर्मोत्साह, तपाराधना, कृष्णकुमार सोसायटी और मेहताशेरी के संघो के मनोमालिन्य की समाप्ति, त्याग-तपस्या मे वृद्धि; आगमिक विषयो पर सारपूर्ण प्रवचन।

पैंतालीस बोरीवली-बम्बई-१९८४; उपनगरो मे सतत् प्रभावी विहार, विश्व-शान्ति, धर्म का सही स्वरूप, श्रमण-संस्कृति की सुदृढ सुरक्षा आदि विषयो पर प्रवचन राणावास-वर्षावास (१९८०) मे पूर्व बिठोडा ग्राम से प्रारम्भ 'जिणधम्मो' की सम्पूर्ति– इन्दौर मे प्रकाशन, स्वाध्याय को शाबाशी।

छियालीस घाटकोपर-बम्बई-१९८५, सिद्धान्तनिष्ठ, मौलिक, यथार्थपरक आध्यात्मिक/धार्मिक विषयो की गूढ विवेचना; निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति को गहरी नींव देने का प्रयत्न, लाउडस्पीकर के विवादास्पद विषय पर मौलिक/युक्तियुक्त विचार।

सैंतालीस जलगांव-१९८६, संस्कार-क्रान्ति अभियान की प्राथमिक तैयारी, स्वाध्याय, तपाराधना।

अडतालीस इन्दौर-१९८७, संस्कार-क्रान्ति अभियान का सफल सूत्रपात; चातुर्मास को सत्रह हफ्तो (जुलाई से नवबर) मे बॉट कर संस्कार-क्रान्ति के बहुविध पक्षो पर प्रवचन, अभियान के सूत्र—महामत्र नमस्कार, भाषा-विवेक, कर्तव्य-पालन, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, पर्यावरण-सुरक्षा, सुसस्कार-धन, सौंदर्य और सुरूपता, रक्त-रंजित सौन्दर्य-प्रसाधन, गर्भपात-महापाप, कषाय-विसर्जन, प्रत्याख्यान, आत्म-शुचिता, दान का व्यावसायीकरण, विषमता/कुरीतियाँ, सामायिक, आतिशबाजी, समता-समाज-रचना; 'तीर्थंकर' के 'साधुमार्ग विशेषाक' का प्रकाशन।

उनपचास रतलाम-१९८८; संस्कार-क्रान्ति अग्रसर, दीक्षाएँ, तपाराधना, ज्ञान-ध्यान।

पचास कानोड-१९८९, बुद्धिजीवियो को संस्कार-क्रान्ति की प्रेरणा, 'आगम-पुरुष' की परिकल्पना; शाकाहार-अभियान, संस्कार-क्रान्ति पुरस्कार।

इक्यावन चित्तौडगढ-१९९०, संस्कार-क्रान्ति पुरस्कारार्पण, ज्ञान-साधना, तपाराधना।

बावन पिपलिया कलाँ-१९९१, जैन तत्त्व-ज्ञान स्नातक शिविर, समीक्षण ध्यान के प्रयोग, व्यसन-मुक्ति अभियान मे तेजी, बहुविध धार्मिक/सामाजिक विषयो पर प्रवचन, स्मरणीय वाक्य*—'क्षणभगुर शरीर को गौण करे। शरीर पोशाक है, जिसके फटने या जीर्ण होने पर सताप कैसा? पोशाक पर क्यो रोये? रूढियो से हटे। आत्मोन्मुख बने। परिवर्तन का स्वागत करे।'

तिरपन उदयरामसर-१९९२, 'आगम पुरुष' का लोकार्पण, वर्षावास जारी।

□

*आगम-पुरुष के आवरण-पृष्ठ का प्रेरणा-वाक्य यही है। इसी की भावना को इसमें प्रतिबिम्बित किया गया है।

बातचीत

पिपलिया कलाँ (राजस्थान)—११ नवम्बर १९९१

(प्रातः ८.१०-९.१०)

इधर के वर्षों में राजनेताओं ने कई गलतियाँ की हैं। अपनी कुर्सियाँ सुरक्षित करने के लिए उन्होंने बुराइयों को बढ़ावा दिया है, परिश्रम की नकल की है। जिसके दुष्परिणाम सामने आये हैं। स्वराज आज भी एक विचारणीय इकाई है।

महाप्राण-साधना मे निमग्न हूँ

नेमीचन्द जैन क्या १९८० ई के बाद देश/समाज के वातावरण मे कोई परिवर्तन आया है?

आचार्य नानालालजी · मानसिकता दूषित हुई है। इसे स्वस्थ/सतुलित किया जाना चाहिये।

ने · आपने अपने भीतर कोई परिवर्तन महसूस किया है?

ना · परिवर्तन हुआ है। तीव्रताएँ बनी हैं। उदासीनता समृद्ध हुई है। मुझे लगा है कि हम व्यक्ति को मृत्यु-भय की अपेक्षा सयम की ओर लाये। मृत्यु तो आयेगी ही, उससे क्या डरे? प्राण-चिन्तन करे। वचन-बल पर ध्यान दे। शब्द-वर्गणाएँ पूरे विश्व मे व्याप्त है। प्राण विलक्षण अस्तित्व है। मै इन दिनो महाप्राण की साधना पर केन्द्रित हूँ। इसे अधिकाश समय देता हूँ। व्यवधान आते है—सामाजिक, सघगत। फिलहाल अतरग की तीव्रता है, निश्चयात्मकता नही बनी है।

ने : व्यवधान किस तरह के होते है?

ना · सघगत व्यवधान, पत्र-व्यवहार, विनतियाँ आदि।

ने इस समय प्रमुख लक्ष्य क्या है?

ना. · आत्मा के 'अत्यन्त विकास' की यात्रा। प्राण-साधना। छह घटे सोता हूँ। शेष तीव्र जागृति मे बीतते है। पुरुषार्थ किये बिना कुछ नही मिलता। अपूर्णताएँ/अपरिपक्वताएँ सबमे हैं, जिन्हे समता-दर्शन और समीक्षण-ध्यान से दूर किया जा सकता है।

ने : क्या इस बीच कोई आशाजनक सामाजिक परिवर्तन हुआ है?

ना · अवरोध है, निराशाएँ बढी हैं, किन्तु समाज अब व्यक्ति को पहचानने लगा है। लोगो मे जिज्ञासाएँ है, किन्तु उनके पास कोई सक्षम सम्बल नही है। ज्यादातर लोग कुण्ठित दीख रहे है। यदि हमने सामाजिक कुण्ठाओ का कोई तर्कसगत मनोवैज्ञानिक तरीका नही ढूँढा, तो ये बढती जाएँगी।

ने · मुख्य समस्या क्या है?

ना प्रश्न तो बहुत सारे है, किन्तु डॉक्टर साहब, उत्तरदाता नही है।

ने : उत्तरदाताओ की सख्या बढाइये।

ना · इन वर्षो मे पन्द्रह-बीस लोग आये। सब सन्तुष्ट लौटे। कुछ भ्रान्तियाँ है, जिनके कारण लोग सही व्यक्ति (उत्तरदाता) तक अपनी पहुँच नही बना पा रहे है।

ने. : साधुवर्ग में आप कैसे परिवर्तन की अपेक्षा रखते हैं?

ना. : यही कि वे अपनी चर्या और लक्ष्य में अविचल बनें। अपरिपक्व दीक्षाएँ बंद हों। स्वाध्याय की वृत्ति बढ़े।

ने. : पतनोन्मुख आहार-विवेक के बारे में आप क्या सोचते हैं?

ना. : आहार निर्दोष/शुद्ध होना चाहिये। इस बारे में गृहस्थ को जागृत करना होगा। गाँवों में भी काम करने की गुंजाइश है। आदिवासियों और छात्रों में व्यसन-मुक्ति-अभियान को अच्छी सफलता मिल सकती है। इसके दूरगामी परिणाम निकलेंगे। जो भी हम करें, अहिंसा उसकी नींव में हो, इसका ध्यान रखें।

ने. : राजनीति के बारे में आप क्या सोचते हैं?

ना. : इधर के वर्षों में राजनेताओं ने कई गलतियाँ की हैं। अपनी कुर्सियाँ सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने बुराइयों को बढ़ावा दिया है, पश्चिम की नकल की है—जिसके दुष्परिणाम सामने आये हैं। टीवी ने भी हमें गिराया है। यदि हम अध्यापक को सक्रिय कर सकें तो अभी भी कुछ किया जा सकता है। अध्यापक आज भी एक विश्वसनीय इकाई है।

ने. : जैन समाज को समन्वित कैसे किया जाए?

ना. : यदि अध्यात्म को आधार बनायेंगे तो काम आसान हो जाएगा।

ने. : क्या जैनधर्म की वैज्ञानिकता को स्पष्ट करने के लिए कोई योजना बनायी जानी चाहिये?

ना. : क्यों नहीं? परमाणु-विज्ञान का क्षेत्र सामने है। जैन साहित्य में इस विषय पर विपुल सामग्री है। आहार-विज्ञान को ले कर हम साधन-सम्पन्न प्रयोगशालाएँ स्थापित कर सकते हैं। तथ्यों की विश्वसनीयता के लिए प्रामाणिकता आवश्यक है, जो अध्ययन/अनुसंधान से ही संभव है। □

प्रवचन

समता-दर्शन समीक्षण-ध्यान - पर्यावरण

मनुष्य चिन्तन और विचार शील प्राणी है। वह प्रकृति की रचना है [illegible] भी किन्तु वह मानता है कि वह परिवर्तनशील है। इसी परिवर्तन पर परिवर्तन स्वभाव रहते हैं।

समता-दर्शन

तकली से सूत काता जाता है और कते हुए सूत से वस्त्र बना कर तन ढँका जाता है; लेकिन अगर कोई दुष्ट प्रकृति का मनुष्य तकली से सूत न कात कर उसे किसी की आँख में घोप दे तो क्या हम इसे तकली का दोष मानेंगे? समता दर्शन ऐसी तमाम विषमताओ तथा अतियों के बीच का एक ऐसा मार्ग है, जो आज के संतप्त मनुष्य को शान्ति, सौख्य, मैत्री और आत्मोन्नयन की मगलकारी दिशा मे ले जाता है।

समता, साम्य या समानता मानव-जीवन एव मानव-समाज के शाश्वत दर्शन है। आध्यात्मिक या धार्मिक क्षेत्र हो अथवा आर्थिक, सामाजिक एव सामाजिक—सभी का लक्ष्य समता है, क्योकि वह मानव-मन के मूल मे है। इसी कृत्रिम विषमता की समाप्ति और समता की अवाप्ति सभी को अभीष्ट होती है। जिस प्रकार आत्माएँ मूल मे समान होती हैं, किन्तु कर्मो का मेल उनमे विभेद पैदा करता है, उसी प्रकार समग्र मानव मे भी स्वस्थ नियम-प्रणाली एव सुदृढ सयम की सहायता से समाजगत समता की स्थापना की जा सकती है।

आज जितनी अधिक विषमता है, समता की माँग भी उतनी ही अधिक गहरी है। काश, हम उसे सुन और महसूस कर सके तथा समता-दर्शन के विचार को व्यापक व्यवहार मे ढाल सके। पहले विचार और बाद मे व्यवहार—यही क्रम सुव्यवस्था का परिचायक है।

वर्तमान विषमता के मूल मे सत्ता और सपत्ति पर व्यक्तिगत, या पार्टीगत लिप्सा की प्रबलता ही विशेष रूप से कारणभूत है और यही कारण सच्ची मानवता के विकास मे बाधक है। समता ही इसका स्थायी और सर्वजनहितकारी समाधान है।

समता दर्शन का लक्ष्य है कि समता विचार में हो, दृष्टि और वाणी मे हो, तथा समता आचरण के प्रत्येक चरण मे हो। जब समता जीवन के अवसरो की प्राप्ति मे होगी और सत्ता और सपत्ति के अधिकार मे होगी तो वह व्यवहार के समूचे दृष्टिकोण मे होगी। समता मनुष्य के मन मे होगी तो वह समाज के जीवन मे भी होगी। प्रगति के ऐसे उत्कृष्ट स्तर पर फिर समता के सुप्रभाव से मनुष्यत्व तो क्या—ईश्वरत्व भी समीप आने लगेगा।

विकासोन्मुख दर्शन

मानव-जीवन गतिशील है। मनुष्य के मस्तिष्क मे नये-नये विचारो का उदय होता है। ये विचार प्रकाशित हो कर अन्य विचारो को आन्दोलित करते है। फिर समाज के विचारो के आदान-प्रदान एव मघर्ष-समन्वय का क्रम चलता है। युग-पुरुष इसी विचार मथन मे से विचार-नवनीत निकालने का कार्य किया करते है।

महावीर की समता-धारा

यह तथ्य स्पष्ट है कि समता-दर्शन का सुगठित एव मूर्त रूप सबसे पहले भगवान् पार्श्वनाथ एव महावीर ने दिया। जब मानव समाज विषमता एव हिंसा का चक्रव्यूह मे फँसा तडप रहा था, तब महावीर ने गभीर चिन्तन के पश्चात् समता-दर्शन की जिस पुष्ट धारा को प्रवाहित किया, वह आज भी प्रेरणा का स्रोत बनी हुई है। इस विचार धारा, और उनके बाद जो चिन्तन-धारा चली है—यदि दोनो का सम्यक् विश्लेषण कर आज समता-दर्शन की स्पष्टता ग्रहण की जाए और उसे व्यवहार मे उतारा जाए तो निस्सन्देह मानव-समाज को आत्मोदय के पथ पर मोडा जा सकता है।

सभी आत्माएँ समान

महावीर ने समता के मूल बिन्दु को सबसे पहले पहिचाना और बताया। उन्होने उद्घोष किया कि सभी आत्माएँ समान है यानी सभी आत्माओ को अपना सर्वोच्च विकास सम्पादित करने की समान शक्ति है। इस शक्ति को प्रस्फुटित एव विकसित करने की समस्या अवश्य है, किन्तु लक्ष्य-प्राप्ति के सबन्ध मे हताशा या निराशा का कोई कारण नही है। इसी विचार ने यह स्थिति स्पष्ट की कि 'जो आत्मा, सो परमात्मा' अर्थात् ईश्वर कोई अलग शक्ति नही, जो सदा मे केवल ईश्वर रूप ही रही हो, बल्कि ससार मे रही आत्मा ही अपनी साधना मे जब उच्चतम विकास साध लेती है तब वही परमपद पा कर परमात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। यह परमात्मा सर्वशक्तिमान् एव पूर्ण ज्ञानवान् तो होता है, किन्तु ससार से उसका कोई सबन्ध उस अवस्था मे नही रहता।

क्रान्ति का यह स्वर महावीर ने गुंजाया कि ससार की रचना ईश्वर नही करता और इसे भी उन्होने मिथ्या बताया कि ऐसे ईश्वर की इच्छा के बिना ससार मे एक पत्ता भी नही खटकता। ससार की रचना को उन्होने

अनादि कर्म-प्रकृति पर आधारित बता कर आत्मीय समता की जो नींव रखी, उस पर समता का प्रासाद खड़ा करना सरल हो गया।

सबसे पहले समदृष्टि

महावीर ने सन्देश दिया कि सबसे पहले समदृष्टि बनो। इसे उन्होंने जीवन-विकास का मूलाधार बताया। 'समदृष्टि' का शाब्दिक अर्थ है 'समान नजर रखना', लेकिन इसका गूढार्थ बहुत गंभीर और विचारणीय है।

मनुष्य का मन जब तक संतुलित और संयमित नहीं होता, तब तक वह अपनी विचारणा के घात-प्रतिघातों में टकराता रहता है। उसकी वृत्तियाँ चंचल बनी रहती है। उसे सद् या असद् का विवेक नहीं रहता। मन की चंचलता राग और द्वेष से चलायमान रहती है। राग इस छोर पर, तो द्वेष उस छोर पर मन को इधर-उधर भटकाते है। इससे मनुष्य की दृष्टि बनती है। राग वाला अपना, और द्वेष वाला पराया तो अपने और पराये का जहाँ भेद बनता है, वहाँ दृष्टि-भेद तो रहता ही है।

महावीर ने मानव-मन की चंचलता पर पहली चोट की, क्योंकि वही तो बन्धन और मुक्ति का मूल कारण है। चंचलता राग और द्वेष को हटाने से हटती है, और यदि चंचलता हटेगी तो विषमता हटेगी। विषम दृष्टि हटने पर ही समदृष्टि उत्पन्न होगी

सबसे पहले समदृष्टित्व आये—यह वांछनीय है, क्योंकि समदृष्टि जो बन जाएगा, वह स्वयं तो समता-पथ पर आरूढ होगा ही, अपने सम्यक् संसर्ग में वह दूसरों को भी विषमता के चक्रव्यूह से बाहर निकालेगा। इसका प्रभाव जितना व्यापक होगा, उतना ही व्यक्ति एवं समाज का सभी क्षेत्रों में चलने वाला क्रम सही दिशा की ओर परिवर्तित होने लगेगा।

श्रावकत्व एवं साधुत्व

समदृष्टि होना समता के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का समारम्भ मात्र है। फिर महावीर ने कठिन क्रियाशीलता का क्रम बनाया। 'समतामय दृष्टि' के बाद 'समतामय आचरण' की पूर्ति के लिए दो स्तरों की रचना की गयी।

पहला स्तर रखा श्रावकत्व। श्रावक के बारह अणुव्रत बताये गये हैं, जिनमें पहले के पाँच मूल गुण कहलाते हैं एवं सात उत्तर गुण। मूल गुणों की रक्षा के निमित्त उत्तर का निर्धारण माना जाता है। व्रत पाँच है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह। अनुरक्षक व्रत सात है—दिशा-मर्यादा,

उपभोग-परिभोग-परिमाण, अनर्थदण्ड त्याग, सामायिक, देशावकासिक, प्रतिपूर्ण पौषध एव अतिथि-सविभाग।

श्रावक के जो पाँच मूल व्रत हैं—वे ही साधु के पाँच महाव्रत हैं। अन्तर दोनो मे यह है कि जहाँ श्रावक स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री-गमन एव सीमित परिग्रह का त्याग करता है, वहाँ साधु सपूर्ण रूप से हिंसा, चोरी, मैथुन एव परिग्रह का त्याग करता है। आशिक स्तर श्रावक का है, तो साधु त्याग की उच्च श्रेणियो मे रमण करता हुआ समता-दर्शन की सूक्ष्म रीति से साधना करता है। महावीर का मार्ग एक दृष्टि से निवृत्ति-प्रधान मार्ग है—वह इसलिए कि उनकी शिक्षाएँ मनुष्य को जड पदार्थो के व्यर्थ व्यामोह से हटा कर चेतना के ज्ञानमय प्रकाश मे ले जाना चाहती है। निवृत्ति का विलोम है प्रवृत्ति अर्थात् आन्तरिकता से विस्मृत बन कर बाहर ही बाहर मृगतृष्णा के पीछे भटकते रहना। जहाँ यहाँ भटकाव है, वहाँ स्वार्थ है, विकार है और विषमता है। समता की सीमा-रेखा मे लाने, बनाये रखने और आगे बढाने के उद्देश्य से ही श्रावकत्व एव साधुत्व की उच्चतर श्रेणियाँ बनायी गयी है।

जानने की सार्थकता मानने मे है और मानना तभी सफल बनता है, जब उसके अनुसार किया जाए। विशिष्ट महत्त्व तो करने का है। आचरण ही जीवन को आगे बढाता है—यह अवश्य है कि आचरण अन्धा या विकृत न हो।

विचार और आचार

दृष्टि जब सम होती है, अर्थात् उसमे भेद नही होता, विकार नही होता, और अपेक्षा नही होती, तब उसकी नजर मे जो आता है वह न तो राग या द्वेष से कलुषित होता है और न स्वार्थभाव से दूषित। वह निरपेक्ष दृष्टि स्वभाव से देखती है। विचार और आचार मे समता का यही अर्थ है कि जब हम किसी समस्या पर सोचे अथवा किसी सिद्धान्त पर क्रियान्वयन करे तब उस समय समदृष्टि एव समभाव रखे, किन्तु इसका अर्थ यह नही कि सभी विचारो की एक ही लीक को माने या एक ही लीक मे भेड-वृत्ति से चले। व्यक्ति के चिन्तन या कृतित्व-स्वातन्त्र्य का लोप नही होना चहिये, बल्कि ऐसी स्वतन्त्रता तो सदा उन्मुक्त रहनी चाहिये।

समदृष्टित्व एव समभाव के साथ बडे-से-बडे समूह का भी चिन्तन या आचरण होगा तो समता का यह रूप उसमे दिखायी देगा कि सभी एक-दूसरे की हित-चिन्ता में निरत हैं और कोई भी ममत्व या मूर्च्छा का मारा नही है।

उपभोग-परिभोग-परिमाण, अनर्थदण्ड त्याग, सामायिक, देशावकासिक, प्रतिपूर्ण पौषध एव अतिथि-सविभाग।

श्रावक के जो पाँच मूल व्रत हैं—वे ही साधु के पाँच महाव्रत हैं। अन्तर दोनो मे यह है कि जहाँ श्रावक स्थूल हिसा, झूठ, चोरी, परस्त्री-गमन एव सीमित परिग्रह का त्याग करता है, वहाँ साधु सपूर्ण रूप से हिंसा, चोरी, मैथुन एव परिग्रह का त्याग करता है। आशिक स्तर श्रावक का है, तो साधु त्याग की उच्च श्रेणियो मे रमण करता हुआ समता-दर्शन की सूक्ष्म रीति से साधना करता है। महावीर का मार्ग एक दृष्टि से निवृत्ति-प्रधान मार्ग है—वह इसलिए कि उनकी शिक्षाएँ मनुष्य को जड पदार्थो के व्यर्थ व्यामोह से हटा कर चेतना के ज्ञानमय प्रकाश मे ले जाना चाहती है। निवृत्ति का विलोम है प्रवृत्ति अर्थात् आन्तरिकता से विस्मृत बन कर बाहर ही बाहर मृगतृष्णा के पीछे भटकते रहना। जहाँ यहाँ भटकाव है, वहाँ स्वार्थ है, विकार है और विषमता है। समता की सीमा-रेखा मे लाने, बनाये रखने और आगे बढाने के उद्देश्य से ही श्रावकत्व एव साधुत्व की उच्चतर श्रेणियाँ बनायी गयी है।

जानने की सार्थकता मानने मे है और मानना तभी सफल बनता है, ज उसके अनुसार किया जाए। विशिष्ट महत्त्व तो करने का है। आचरण जीवन को आगे बढाता है—यह अवश्य है कि आचरण अन्धा या विकृत हो।

विचार और आचार

दृष्टि जब सम होती है, अर्थात् उसमे भेद नही होता, विकार होता, और अपेक्षा नही होती, तब उसकी नजर मे जो आता है वह न तो या द्वेष से कलुषित होता है और न स्वार्थभाव से दूषित। वह निरपेक्ष स्वभाव से देखती है। विचार और आचार मे समता का यही अर्थ है कि हम किसी समस्या पर सोचें अथवा किसी सिद्धान्त पर क्रियान्वयन क उस समय समदृष्टि एव समभाव रखे, किन्तु इसका अर्थ यह नही कि विचारो की एक ही लीक को माने या एक ही लीक मे भेड-वृत्ति से व्यक्ति के चिन्तन या कृतित्व-स्वातन्त्र्य का लोप नही होना चहिये ऐसी स्वतन्त्रता तो सदा उन्मुक्त रहनी चाहिये।

समदृष्टित्व एव समभाव के साथ बडे-से-बडे समूह का भी कि आचरण होगा तो समता का यह रूप उसमे दिखायी देगा कि सभी की हित-चिन्ता मे निरत हैं और कोई भी ममत्व या मूर्च्छा का मा

लोकतन्त्र की जो छोटी-सी व्याख्या की गयी है कि वह तन्त्र जो जनता का, जनता के द्वारा तथा जनता के लिए हो—स्थिति को प्रकट करती है कि एक व्यक्ति की इच्छा नहीं, समूह की इच्छा प्रभावशील होगी। व्यक्ति अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी, तथा एक ही व्यक्ति एक बार अच्छा हो सकता है तो दूसरी बार बुरा भी—अत एक ही व्यक्ति की इच्छा पर अगणित व्यक्ति निर्भर रहें—यह ममता की दृष्टि से ही अन्यायोचित माना जाने लगा है। समूह की इच्छा सहसा नही बदलती और न ही अनुचित की ओर आसानी से जा सकती है, अत समूह की इच्छा को प्रमुखता देने का प्रयत्न ही लोकतन्त्र के रूप मे सामने आया।

लोकतन्त्र के रूप मे राजनीतिक समानता की स्थापना हुई कि छोटे-बडे प्रत्येक नागरिक को एक मत समान रूप से देने का अधिकार है और बहुमत मिला कर अपने प्रतिनिधि का चुनाव किया जाए। यह पक्ष अलग है कि व्यक्ति अपने स्वार्थो के वशीभूत हो कर किस प्रकार अच्छी से अच्छी व्यवस्था को तहस-नहस कर सकते है, किन्तु लोकतन्त्र का ध्येय यही है कि सर्वजन-हिताय एव साम्य के लिए व्यक्ति की उद्दाम कामनाओ पर नियन्त्रण रखा जाए।

चिन्तन की प्रगति के साथ इसी ध्येय को आर्थिक एव सामाजिक क्षेत्रो मे भी सफल बनाने के प्रयास आरम्भ हुए। इन प्रयासो ने मनुष्यकृत आर्थिक विषमता पर करारी चोट की और जिन सामाजिक सिद्धान्तो का निर्माण किया, उनमे समाजवाद एव साम्यवाद प्रमुख है। इन सिद्धान्तो का विकास भी धीरे-धीरे हुआ और कार्ल मार्क्स ने साम्यवाद के रूप मे इस युग मे एक पूरा जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया। युग अलग-अलग थे, किन्तु क्रान्ति की जो धारा अपरिग्रह के रूप मे महावीर ने प्रवाहित की, वैचारिक दृष्टि से कार्ल मार्क्स पर भी उसका कुछ प्रभाव था। कार्ल मार्क्स मे भी यह तडप थी कि यह अर्थ व्यक्तिगत स्वामित्व के बन्धनो से छूट कर जन-जन के कल्याण का साधन बन सके। व्यक्तिगत स्वामित्व के छूटने का अर्थ होगा अपरिग्रह का ममत्व छूटना। सम्पत्ति पर सार्वजनिक स्वामित्व की स्थापना मे धन-लोलुपता नही रहती है। मानवता प्रमुख रहे और धन उसके साधन रूप मे गौण स्थान पर रहे—मार्क्स ने बताया कि एक परिवार की तरह सारे समाज मे आर्थिक एव सामाजिक समानता का प्रसार होना चाहिये।

अर्थ का अर्थ/अर्थ का अनर्थ

सामाजिक जीवन के वैज्ञानिक विकास की ओर दृष्टिपात करें तो

दृष्टिकोण यह होगा कि परिवर्तन के प्रवाह को समझा जाए तथा परिवर्तन के प्रवाह मे मौलिकता को कदापि विस्मृत न होने दिया जाए। दोनो का समन्वित रूप ही श्रेयस्कर हो सकता है।

सामाजिक शक्ति का उभार

वैज्ञानिको के विकास ने मानव-जीवन की चली आती परम्परा मे एक अचिन्तनीय क्रान्ति की है। व्यक्ति की जान-पहिचान का दायरा जो पहले बहुत छोटा था—समय और दूरी पर विज्ञान की विजय ने उसे अत्यधिक विस्तृत कर दिया है। आज साधारण से साधारण व्यक्ति का भी प्रत्यक्ष परिचय काफी बढ़ गया है तो रेडियो, टेलीविजन एव समाचार-पत्रो के माध्यम से उसकी जानकारी का क्षेत्र समूचे ज्ञात विश्व तक फैल गया है।

इस व्यापक परिचय ने व्यक्ति को अधिकाधिक सामाजिक बनाया, क्योकि उपयोगी पदार्थो के विस्तार से उसका एकावलम्बन टूट-सा गया—समाज का अवलम्बन पग-पग पर आवश्यक हो गया। अधिक परिचय से अधिक सम्पर्क और अधिक सामाजिकता फैलने लगी। सामाजिकता के प्रसार का अर्थ हुआ सामाजिक शक्ति का नवोत्थान।

अब तक व्यक्ति का प्रभाव अधिक था, समाज का सामूहिक शक्ति के रूप मे प्रभाव नगण्य था, अत व्यक्ति की सर्वोच्च प्रतिभा से ही सारे समाज को किसी प्रकार का मार्गदर्शन मिलता था। अब राजनीति ओर अर्थनीति की धुरी भी व्यक्ति के ही चारो ओर घूमती थी। राजतन्त्र का प्रचलन था और राजा को ईश्वर-रूप समझा जाता था। उसकी इच्छा का पालन ही कानून था। अर्थनीति भी राजा के आश्रय मे चलती थी।

वैज्ञानिक विकास एव सामाजिक शक्ति के भार ने परिवर्तन के चक्र को तेज कर दिया।

समता . राजनीतिक और आर्थिक

आधुनिक इतिहास का यह बहुत लम्बा अध्याय है कि किस प्रकार विभिन्न देशो मे जनता को राजतन्त्र से कठिन और बलिदानी लडाइया लडनी पड़ी तथा दीर्घ संघर्ष के बाद अलग-अलग देशो मे अलग-अलग समय मे वह राजतन्त्र की निरकुशता से मुक्त हो सकी। इस मुक्ति के साथ ही लोकतन्त्र का इतिहास प्रारभ होता है। जनता की इच्छा का बल प्रकट होने लगा और जन-प्रतिनिध्यात्मक सरकारो की रचना शुरू हुई। उसके आधार पर ससदीय लोकतन्त्र की नीव पड़ी।

लीक पर चलाने की प्रणालियाँ निर्मित की जाएँ। ये दोनो छोर एक-दूसरे के पूरक बने, आपस मे जुडे, तब व्यक्ति मे समाज और समाज मे व्यक्ति का निर्माण सहज बनेगा।

सामान्य स्थिति अधिकाशत ऐसी ही रहती है कि समाज के बहुसख्यक लोग सामान्य मानस के होते है, जिन पर किसी-न-किसी प्रकार का नियन्त्रण रहे तो वे सामान्य गति से चलते रहते हैं, अन्यथा रास्ते से भटक जाना उनके लिए आसान होता है। जो लोग प्रबुद्ध होते है, वे स्वय भ्रष्ट न हो कर चेतना को जागृत रखते हुए यदि ऐसी सामाजिक स्थितियाँ बनाये जो सामान्य जन के नैतिक विकास को प्रोत्साहित करती हो, तो वह सर्वथा वाछनीय होगा।

समता के स्वर

वर्तमान विषमता की कर्कश ध्वनियो के बीच आज साहस करके समता के समरस स्वरो को सारी दिशा मे गुजायमान करने की आवश्यकता है। समस्त जीवन के सभी क्षेत्रो मे फैली विषमता के विरुद्ध मनुष्य को सघर्ष करना होगा, क्योकि इस विषम वातावरण मे मनुष्यता का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है।

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य गिरता, उठता और बदलता रहेगा, किन्तु मनुष्यता कभी समाप्त नही होगी, उसका सूरज डूबेगा नही। वह सो सकती है मर नही सकती। अब समय आ गया है जब मनुष्य की सजीवता को ले कर मनुष्य को उठना होगा—जागना होगा और क्रान्ति-पताका को उठा कर परिवर्तन का चक्र घुमाना होगा। क्रान्ति यही कि वर्तमान विषमताजन्य सामाजिक मूल्यो को हटा कर समता के नये मानवीय मूल्यो की स्थापना की जाए। इसके लिए प्रबुद्ध एव युवावर्ग को विशेष रूप मे सामने आना होगा और उसे एक व्यापक जागरण का शख फूकना होगा ताकि समता के समरस स्वर उद्बुद्ध हो सके।

नयी रोशनी

सत्याशो के सचय मे समता-दर्शन का जो सत्य हमारे सामने प्रकट होता है, उसे यथाशक्ति, यथासाध्य सबके समक्ष प्रस्तुत करने का नम्र प्रयास यहा किया जा रहा है। समता-दर्शन का यह नया प्रकाश प्रेरणा एव रचना की नयी अनुभूतियो को सजग बना सकेगा।

समता-दर्शन को अपने नवीन एव सपूर्ण परिप्रेक्ष्य मे समझने के लिए उसके निम्न चार सोपान बनाये गये है—

विदित होगा कि इस प्रक्रिया मे अर्थ का भारी प्रभाव रहा है। जिस वर्ग के हाथो मे अर्थ का नियन्त्रण रहा, उसी के हाथो मे सारे समाज की सत्ता सिमटी रही, बल्कि यो कहना चाहिये कि समाज के विभिन्न क्षेत्रो मे समता प्राप्त करने के जो प्रयत्न चले अथवा कि जो प्रयत्न सफल हुए—अर्थ की सत्ता वालो ने उन्हे नष्ट कर दिया। आज भी इसी अर्थ के अनर्थ-रूप जगह-जगह लोकतन्त्र की अथवा साम्यवाद तक की दूषित प्रक्रियाएँ बनायी जा रही हैं।

सम्पत्ति की सत्ता का उदय तब हुआ है, जब मनुष्य का प्रकृति का शुद्ध आश्रय छूट गया और उसे अर्जन के लिए कर्मक्षेत्र मे प्रवेश करना पडा। जिसके हाथ मे अर्जन एवं सचय का सूत्र रहा—सत्ता का सूत्र भी उसी ने पकडा। आधुनिक युग मे पूँजीवाद एव साम्राज्यवाद तक की गति इसी परिपाटी पर चली जो व्यक्तिवादी नियन्त्रण पर आधारित रही अथवा यो कहे कि अर्थ के अनर्थ का विषमतम रूप इन प्रणालियो के रूप मे सामने आया जिनका परिणाम विश्व-युद्ध, नर-सहार एव आर्थिक शोषण के रूप मे फूटता रहा है।

अर्थ का अर्थ जब तक व्यक्ति के लिए और व्यक्ति के नियन्त्रण मे रहेगा तब तक वह अनर्थ का मूल भी बना रहेगा, क्योकि वह उसे त्याग की ओर बढने से रोकेगा, उसकी परिग्रह-मूर्च्छा को काटने मे कठिनाई आती रहेगी, इसलिए अर्थ का अर्थ समाज से जुड जाए और उसमे व्यक्ति की अर्थाकाक्षाओ को खुल कर खेलने का अवसर न हो तो सभव है, अर्थ के अनर्थ को मिटाया जा सके।

दोनो छोर मिलाये

ये सारे प्रयोग फिर भी बाह्य प्रयोग ही है और बाह्य प्रयोग तभी सफल बन सकते हैं, जब अन्तर का धरातल उन प्रयोगो की सफलता के अनुकूल बना लिया गया हो। तकली से सूत काता जाता है और सूत से वस्त्र बना कर किसी भी नगे बदन को ढँका जाता है, लेकिन कोई दुष्ट प्रकृति का मनुष्य तकली से सूत न कात कर उसे किसी दूसरे की आँख मे घुसेड दे तो क्या हम उसे तकली का दोष माने? सज्जन प्रकृति का मनुष्य बुराई मे भी अच्छाई को ही देखता है; लेकिन दुष्ट प्रकृति का मनुष्य अच्छे से अच्छे साधन से भी बुराई करने की चेष्टा करता रहता है।

तो एक ही कार्य के दो छोर है—व्यक्ति आत्म-नियन्त्रण एव आत्म साधना से श्रेष्ठ प्रकृतियो मे ढलता हुआ उच्चतम विकास करे और साधारण रूप से और उसकी साधारण स्थिति में सामाजिक नियन्त्रण से उसे समता की

अमरता की खोज में

मानव के सम्मुख एक प्रश्न है—पीयूष की वह धारा कहां है? कहां मिलेगी वह सजीवनी बूटी जिसे पा कर मैं अमरता का पथिक बन सकूंगा? कहीं कोई ऐसी विद्या या मन्त्र-शक्ति हो तो उसका सहारा ले लूं, कहीं कोई सिद्धि हो तो उसे पा कर सफल हो जाऊं। ऐसी न जाने क्या-क्या/कैसी-कैसी कल्पनाऐं जन-जन के मन-मस्तिष्क मे आती रहती हैं।

अन्तरावलोकन

आधुनिक युग का मानव वायुमण्डल के प्रदूषण, जल प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण आदि को जान रहा है और चिन्तित भी है। यहां ज्ञातव्य एव ध्यातत्व है कि बाह्य एव दृश्य प्रदूषण वस्तुत अन्तर के प्रदूषण मे ही बनता-बढता है। इस तथ्य को जानने और इससे साक्षात्कार के लिए दृष्टि को एक उपयुक्त मोड देना आवश्यक है। अन्तर का अवलोकन करना इस दिशा मे प्रथम कदम है। यदि हम अन्तरावलोकन करे तो सही एव स्पष्ट स्थिति हमारे सम्मुख आ सकती है।

गहन चिन्तन से प्रकट होता है कि मानव-मन मे रही हुई तामसिक भावनाओ/वृत्तियो से ही हमारे इर्द-गिर्द का वातावरण अशुद्ध बनता है और ऐसे ही सात्त्विक विचारो से विशुद्ध पर्यावरण का निर्माण होता है।

हमारा भविष्य

आज सरकार की शक्ति बाहरी प्रदूषण को हटाने मे प्रयासरत है, इस चिन्तन मे कई विज्ञ चिन्तक, विचारक एव अन्यान्य वैज्ञानिको का चिन्तन एव प्रयत्न बढा है। प्रबुद्ध वर्ग चिन्तित एव व्यथित है। उसके सामने प्रश्न है—'हमारा भविष्य क्या होगा?' पर्यावरण के खतरे से बचने के हेतु विज्ञापन दिये जा रहे है, साधनो की खोज जारी है और तत्सबन्धी सामग्री एकत्रित की जा रही है। सबका एक ही ध्येय है कि सृष्टि का सर्वोच्च शृगार — मानव, सुरक्षित रूप से जीवन जीने का पूर्ण एव सुरक्षित अधिकार प्राप्त कर सके। उदार दृष्टि से देखा जाए तो इस धरा पर मनुष्य एकमात्र ही सर्वाधिक अधिकार-सम्पन्न अस्तित्व नही है, वरन् प्रत्येक प्राणी को भी इतना ही अधिकार प्राप्त है। इसका प्रथम उद्घोष भगवान् महावीर ने किया। 'जीओ और जीने दो' जैसी उदात्त भावना से ही प्रत्येक मनुष्य का जीवन सुरक्षित एव निर्धारित हो सकता है।

१ सिद्धान्त-दर्शन

मानव ही नही, प्राणि-समाज से सबन्धित सभी क्षेत्रो मे यथार्थ दृष्टि, वस्तु-स्वरूप, उत्तरदायित्व तथा शुद्ध कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान एव सम्यक्, सर्वांगीण एव सपूर्ण चरम विकास की साधना, समता सिद्धान्त का मूलाधार है। इस सोपान पर सिद्धान्त प्रमुखता दी गयी है।

२ जीवन-दर्शन

सबके लिए एक तथा एक के लिए सब तथा जियो और जीने दो के प्रतिपादक सिद्धान्तो तथा सयम-नियमो को स्वय को और समाज के जीवन मे आचरित करना समता का जीता-जागता रूप होगा।

३ आत्म-दर्शन

समतापूर्ण आचार की पृष्ठभूमि पर जिस प्रकाश स्वरूप-चेतना का आविर्भाव होगा, उसे सतत् एव सत्साधना, पूर्ण सेवा तथा स्वानुभूति के वल पर पुष्ट करते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की व्यापक भावना मे आत्मविसर्जित हो जाना समता का तीसरा चरण होगा।

४ परमात्म-दर्शन

आत्मविसर्जन के वाद प्रकाश मे प्रकाश के समान मिल जाने की यह चरम स्थिति है। तब मनुष्य न केवल एक आत्मा अपितु सारे प्राणि-समाज को अपनी सेवा एव समता की परिधि मे अन्तर्निहित कर लेने के कारण उज्ज्वलतम स्वरूप प्राप्त करके स्वय परमात्मा हो जाता है। आत्मा का परम स्वरूप ही समता का चरम स्वरूप है। □

अमरता की खोज में

मानव के सम्मुख एक प्रश्न है—पीयूष की वह धारा कहाँ है? कहाँ मिलेगी वह सजीवनी बूटी जिसे पा कर मैं अमरता का पथिक बन सकूँगा? कहीं कोई ऐसी विद्या या मन्त्र-शक्ति हो तो उसका सहारा ले लूँ, कहीं कोई सिद्धि हो तो उसे पा कर सफल हो जाऊँ। ऐसी न जाने क्या-क्या/कैसी-कैसी कल्पनाऐं जन-जन के मन-मस्तिष्क मे आती रहती हैं।

अन्तरावलोकन

आधुनिक युग का मानव वायुमण्डल के प्रदूषण, जल प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण आदि को जान रहा है और चिन्तित भी है। यहाँ ज्ञातव्य एव ध्यातव्य है कि बाह्य एव दृश्य प्रदूषण वस्तुत अन्तर के प्रदूषण मे ही बनता-बढता है। इस तथ्य को जानने और इससे साक्षात्कार के लिए दृष्टि को एक उपयुक्त मोड देना आवश्यक है। अन्तर का अवलोकन करना इस दिशा मे प्रथम कदम है। यदि हम अन्तरावलोकन करे तो सही एव स्पष्ट स्थिति हमारे सम्मुख आ सकती है।

गहन चिन्तन से प्रकट होता है कि मानव-मन मे रही हुई तामसिक भावनाओ/वृत्तियो से ही हमारे इर्द-गिर्द का वातावरण अशुद्ध बनता है और ऐसे ही सात्त्विक विचारो से विशुद्ध पर्यावरण का निर्माण होता है।

हमारा भविष्य

आज सरकार की शक्ति बाहरी प्रदूषण को हटाने मे प्रयासरत है, इस चिन्तन मे कई विज्ञ चिन्तक, विचारक एव अन्यान्य वैज्ञानिको का चिन्तन एव प्रयत्न बढा है। प्रबुद्ध वर्ग चिन्तित एव व्यथित है। उसके सामने प्रश्न है—'हमारा भविष्य क्या होगा?' पर्यावरण के खतरे से बचने के हेतु विज्ञापन दिये जा रहे है, साधनो की खोज जारी है और तत्सम्बन्धी सामग्री एकत्रित की जा रही है। सबका एक ही ध्येय है कि सृष्टि का सर्वोच्च शृगार — मानव, सुरक्षित रूप से जीवन जीने का पूर्ण एव सुरक्षित अधिकार प्राप्त कर सके। उदार दृष्टि से देखा जाए तो इस धरा पर मनुष्य एकमात्र ही सर्वाधिक अधिकार-सम्पन्न अस्तित्व नही है, वरन् प्रत्येक प्राणी को भी उतना ही अधिकार प्राप्त है। उसका प्रथम उद्घोष भगवान् महावीर ने किया। 'जीओ और जीने दो' जैसी उदात्त भावना से ही प्रत्येक मनुष्य का जीवन सुरक्षित एव विकसित हो सकता है।

जीवन-खेती

इतिहास साक्षी है कि यदि मानसिक धरातल को कोमल-मृदुल बनाने एव उसके विषय-विकार-रूपी कूडे-कचरे को हटाने-मिटाने का पुनीत लक्ष्य बनाया जाए तो सदैव सशोधन-परिमार्जन के अवसर विद्यमान हैं। मनोविज्ञान भी इसी कथन को सिद्ध करता है और एतद्विषयक विभिन्न प्रयोगो से अनुकूल परिणाम भी सामने आये हैं। सद्भावनाओ के सचार से ही जगती के अणु-अणु मे, प्रकृति के कण-कण मे जो निखार आ सकता है, वैसी शक्ति किसी भी भौतिक साधन मे नही है, अत विविध पक्षीय बाह्य प्रदूषण के उन्मूलन के साथ जन-जन को जाग्रत होने, मन-मस्तिष्क को सच्चिन्तन की खुराक देने की आवश्यकता है। यदि अच्छे विचारो/नैतिक धाराओ को प्रवाह मिल जाए तो जन-जन के जीवन की खेती मनमोहक बनेगी, लहलहाने लगेगी। अन्तर का प्रदूषण मिटने पर बाह्य प्रदूषण आपोआप समाप्त हो जाएगा।

अमृत के झरने

मनुष्य अपनी आन्तरिक लालसा से अमर बनने के लिए अमृत का निर्झर खोजता है, अमरत्व पाने हेतु सजीवनी ढूँढना चाहता है। उसे मृत्यु की छाया मात्र से भय है, अत मौत से दूर—अधिक दूर भाग जाना चाहता है। कैसी विडम्बना है! कैसी विचित्रता है! कैसा खिलवाड है! मानव-जीवन की भव्य गरिमा का, जीवन का क्या यही स्वरूप है? सम्यक् दृष्टि से ही सत्य की खोज अपेक्षित है। दृष्टि सही बन जाए तो सृष्टि भी स्वत सही हो जाएगी।

मृत्यु को बनायें पर्व

'जीव' शब्द से ही 'जीवन' शब्द का निर्माण हुआ है, जिसका स्पष्ट अर्थ है जीने की अभिलाषा, जीवत्व का भाव, जीवन की आकाक्षा। यह इच्छा स्वाभाविक है और स्वभाव को किसी भी स्थिति मे परिवर्तित नही किया जा सकता; परन्तु जीवन की सच्ची परिभाषा मृत्यु को समझना है। जीवन के चरम छोर मृत्यु को महोत्सव मानना ही मृत्यु के वास्तविक सार को समझना है। यह जीवन विराट् एव अगाध है, अजर एव अमर है, परन्तु इसे पाच-सात फुट की देह को ही जीवन मानना हमारे ज्ञान का बौनापन है। इसी कारण हम सत्य से अतीव दूर है। प्राय मानव एक चाह तो रखता है शाश्वतता की, परन्तु उसे सही राह नहीं मिल पाती, जीने की उत्कण्ठा होते हुए भी अमरत्व का पथ/नही मिल पाता। सुधार का सागर चाह कर भी वह उसकी एक बूँद का स्वाद तक नही ले पाता।

उमके सम्मुख एक प्रश्न है—'वह पीयूष की धारा कहाँ है? कहाँ मिलेगी वह मजीवनी बूटी जिमे पा कर मैं अमरता का पथिक बन सकूँगा? कही कोई ऐमी विद्या या मत्र-शक्ति हो तो उसका महारा ले लूँ, कही कोई मिद्धि हो तो उसे पा कर सफल हो जाऊँ—ऐमी न जाने कैसी-कितनी कल्पनाएँ जन-जन के मन-मस्तिष्क मे आती रहती है, परन्तु इतिहाम के पृष्ठो से ज्ञात होना कठिन है कि अतीत मे ऐमी किमी शक्ति या विधि का निर्माण हुआ हो कि अमरता की यह आशा फलित हुई हो। चाहे आज वैज्ञानिक आविष्कारो के अवार लग गये पर यह ममाधान की कोई भी यन्त्र-शक्ति प्राप्त नही कर पायी। ममार की चाहे किमी भी शक्ति को विशिष्ट माना जाए पर इस शाश्वत सत्य को नकारा नहीं जा मकता। इस मदर्भ मे न कोई ज्योतिष विद्या सफल हुई और न ही कोई तात्रिक शक्ति, अत अमृत के घूँट को पाने के इच्छुक व्यक्ति यदि अमरता के पावन-पुनीत पथ को पाना चाहते है तो जब उनका पुरुषार्थ अध्यात्म-पथ की ओर सतत् गतिशील होगा, उन्हे तब परम पद अवश्य मिल जाएगा, तब उनके जीवन का कण-कण अवश्य खिल जाएगा। □

निष्प्राण रूढ़ियों की लाश ढोते हम

परिवर्तन की प्रक्रिया मे ऐसी समीक्षा यह जानने के लिए जरूरी होती है कि किसी रूढ़ि के विषय मे एक सामान्य जन का अज्ञान कितना है और उस बारे मे किसी विशिष्ट वर्ग का मायाचार कितना है। इसी के आधार पर किसी प्राणहीन रूढि के विरुद्ध एक सफल अभियान चलाया जा सकता है और उसके खिलाफ एक सक्रिय विद्रोह जगाया जा सकता है।

यदि किसी व्यक्ति को आप किसी की मृत देह अपने कन्धो पर हर समय ढोये चलते देखे, तो आप क्या सोचेगे? अलग-अलग विचार इस रूप मे प्रकट हो सकते है कि यह उसकी बेहद मूर्खता है या उसका अतिशय मोह है या कि उसकी कोई छुपी हुई घोर कुटिलाई है। मूर्खता कहने वालो का तात्पर्य होगा कि सामान्य रूप से मृत देह का अतिम सस्कार नही करके जो उसे अपने कन्धो पर ढोये फिर रहा है, उसमे उसकी मस्तिष्क-विकृति ही हो सकती है। मोह की बात भी बेवश मानी जा सकती है, लेकिन यह कुटिलाई की बात गहराई से जाँचने परखने की होती है। मृत देह को कन्धो पर ढोते रहने से उसका भीतर का कोई मतव्य है—यह चौकाने वाली बात होती है उसकी निकृष्टता कि लाश के जरिये भी वह अपना कोई छुपा हुआ मतलब पूरा करना चाहता है।

जब आज समाज मे इस तथ्य की समीक्षा की जाती है कि लोग प्राणहीन रूढियो की गुलामी मे क्यो पडे हुए है, तब कुछ-कुछ इसी विधि से सोचना पडता है कि वे मृत देह को अपने कन्धो पर ढो कर क्यो चल रहे हैं? यह अज्ञान भी हो सकता है तो किसी वर्ग का मायाचार भी। जो भी हो, वर्तमान रूढियो के निवारण की भावना रखते हुए उनके आज भी टिके रहने के कारणो की पूरी समीक्षा तो आवश्यक है ही। इस समीक्षा मे ही यह जाना जा सकेगा कि समाज के किन वर्गो का उस सबन्ध मे फैला हुआ अज्ञान दूर करना होगा तो किन वर्गों के मायाचार के विरुद्ध सघर्ष करना पडेगा। अज्ञान या मोह तथा मायाचार दोनो के निवारण का कार्य सरल नही है, अत जो लोग वर्तमान मे प्रचलित रूढियो को मिटाना चाहते है उन्हे पूरी सूझ-बूझ तथा त्याग-वृत्ति का परिचय देना होगा।

मायाचार कितना, अज्ञान कितना

रूढि को कुरूढि कहने की जरूरत नही है, क्योंकि 'कु' लगने पर भी रूढि बनती है। जैसा कि आप समझ चुके होंगे कि आप उत्साह के साथ शुद्ध भावो की रक्षा के लिए किसी भी रीति का पालन किया जाता है और प्रचलन

होता है तो उस रीति मे सद्भाव और सहयोग बना रहता है, किन्तु जब प्रकृति का काल-प्रवाह और मनुष्य के स्वार्थ, ढोग और आडम्बर से उस रीति को विकृत बना दिया जाता है, तब उमका पालन उत्साहहीन, प्राणहीन, तथा दिशाहीन बन जाता है और वैसा पालन रूढ कहलाता है। विकृत रीति को इसी कारण रूढि का नाम दे दिया जाता है।

रूढि प्राणहीन इसलिए कहलाती है कि उसका पालन करने वाला व्यक्ति या समाज इस तथ्य को भुला देता है कि उम रीति के पालन का शुभ उद्देश्य क्या था? आप सोचे कि सामायिक क्यो की जानी चाहिये? उसका उद्देश्य है समता-भाव को अपने अन्त करण मे पैदा करना और पुष्ट करना ताकि वह भाव अपने पूरे जीवन के व्यवहार मे फैले तथा दूसरे लोगो को भी अपनी शुभ्रता की ओर आकर्षित करे। आप रोज सामायिक करे और इस उद्देश्य को बराबर ध्यान मे रखे, तभी उद्देश्य प्राणवान् बना रह सकता है और सामायिक की साधना भी जीवन्त रूप धारण किये हुए प्रचलित रह सकती है।

अब इसी साधना के बारे मे इतना अज्ञान हो या बन जाए कि मशीन की तरह सारी पाटियां गिन ले और निर्धारित समय तक बैठे रहे, किन्तु यह न जाने कि इससे हमको मिलना क्या है तो आप भी सहमत होंगे कि सामायिक का वाछित फल तो नही मिलेगा, किन्तु काल-प्रवाह मे यह भी कठिन हो सकता है कि इस सामायिक की साधना का स्वरूप भी शुद्ध बना रहे। जब धार्मिक क्रिया को भी रूढ बना सकते है तब सासारिक रीति रूढ बन जाए, ऐसा उद्देश्य सबन्धी अज्ञान सामान्य जन मे फैल ही सकता है, लेकिन यह स्थिति गभीरता से विचारणीय होती है, जब कोई व्यक्ति या वर्ग अपने स्वार्थ, ढोग या आडम्बर को प्रभावी दिखाने के लिए किसी रीति की अच्छाई का गला घोट कर उसे रूढि बना देता है।

परिवर्तन की प्रक्रिया मे ऐसी समीक्षा यह जानने के लिए जरूरी होती है कि किसी रूढि के विषय मे एक सामान्य जन का अज्ञान कितना है और उस बारे मे किसी विशिष्ट वर्ग का मायाचार कितना? इसी जानकारी के आधार पर प्राणहीन रूढि के विरुद्ध एक सफल अभियान चलाया जा सकता है और क्रियाशील विद्रोह जगाया जा सकता है

दहेज का दल

दहेज की रूढि पूरी तरह से मायाचार के आधार पर बनी और चली

है। विवाह गृहस्थ जीवन की एक रीति ही नही है, वरन् उसका एक सस्थागत स्वरूप माना जाता है। जैसे समाज मे धन की समानता स्थापित करने के सबन्ध मे कई विचारधाराएँ बनी तो उसका उद्देश्य रोटी की सुव्यवस्था करने का था कि सभी मूलभूत आवश्यकताएँ किसी तरह पूरी हो। समाज मे जैसे रोटी की समस्या होती है, वैसे ही यौनाचार की ममस्या होती है कि उसकी भी सुव्यवस्था हो जिससे समाज मे दुराचार-वृत्ति, नारी-यातना, या ऐसे ही अन्य कुकृत्य ना फैले। यौनाचार को सुव्यवस्थित बनाने का साधन है विवाह की मस्था।

विवाह एक युवक और युवती के बीच ऐमा बन्धन होता है जिसे जीवन-पर्यन्त निभाया जाता है। विवाह की सार्थकता धर्मपूर्वक काम मे मानी गयी है, जिसमे दोनो पक्ष समान योग्यता, विवेक और शक्ति वाले हो तथा स्वेच्छा से नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए परस्पर जुडे। इस अनुष्ठान मे न तो लडकी के बिकने और न लडके के बिकने का सवाल पैदा होता है ओर न ही किसी का मूल्य उगाहने का। यह निर्णय भी सबन्धित युवक एव युवती का स्वय का ही होना चाहिये, किन्तु हितैपियो की दृष्टि से निर्णय का भार माता-पिता ने सँभाला। माता-पिता का दायित्व था कि दोनो के पारस्परिक हित मान को देखकर ही सबनध करना चाहिए, लेकिन वे अपने लाभ, मान, या लोभ के चक्कर मे पडने लगे और इस चक्कर को कामयाब बनाने के लिए मायाचार आवश्यक हो गया।

यही से बदलने लगा विवाह रूढि मे ओर और दहेज़ इसका मुख्य मायाचार हो गया। लडकी वाला घर बारात ले कर आये और लडके वालो को नारियल भेट कर मिलनी मे उमका मान करे ओर आतिथ्य-सत्कार करे—यह तो ठीक, लेकिन लडके वाला दहेज़ की माँगणी करे और लडकी वाले की हैसियत हो तो अलग बात, लेकिन यदि वह दहेज़ देने के लिए मजबूर हो तो यह रूढिगत मायाचार ही कहलायेगा। दहेज का रूप भी धीरे-धीरे विकराल होता चला गया है। लालची मा-बाप अपने बेटो की बोटी-बोटी का दाम उगाहने लगे है—आज दहेज़ की ऐसी दशा सामने आ गयी है।

दहेज़ की इसी राक्षसी वृत्ति का कुफल है कि जगह-जगह दहेज़ अधिक से अधिक लाने के लिए बहुओ को यातनाएं दी जाती है या जला कर मार डाला जाता है। दहेज़ देने से मजबूर मा-बाप बडी उम्र हो जाने तक अपनी बेटियो का व्याह नही कर मकते हैं ओर उन्हे तरह-तरह के अपराधो तथा

मत्रासो का शिकार होना पडता है। कई कुमारिकाएं इस कारण आत्महत्याएँ कर लेती है कि उनके माता-पिता अपनी मजबूरी मे छटपटा रहे है। इतनी दुःख-दुविधा के बाद भी लडके वाले और पैसे वाले इस रूढि को पकडे रहे—यह उनका मायाचार ही तो है—माया को वह नही छोड सकते, चाहे कइयो के प्राण छूटते क्यो न चले जाएं। किसी ने मुझे बताया कि गत एक वर्ष मे दिल्ली मे ही दहेज के कारण साढे तीन सौ के करीब बहुएँ जला कर मार डाली गयी।

क्या ऐसी राक्षसी रूढि का एक पल के लिए भी सहन किया जा सकता है? फिर भी जो इसे जकडे हुए है क्या उन्हे सही नजर से देखा जा सकता है? अब तो विवाह योग्य युवा-युवतियो को ही आगे आ कर इस रूढि को तेजी से समाप्त करना चाहिये। आगे जा कर माता-पिता का विरोध भी झेलना नही पडे, इसके लिए मेरा सुझाव है कि आप सब युवक-युवतियां प्रतिज्ञा करे दहेज नही स्वीकार करने की और दहेज की बात नही हो तो वहां विवाह रचाने की। ऐसा विद्रोह जरूरी है।

ऐसे भोज : मानवता पर कलक

भोज सबको प्रिय लगता है फिर वह भयकर कैसे हो सकता है, किन्तु होता है और उसकी भयकरता समझ कर वह छोडने लायक है।

पहला भयकर भोज है मृत्युभोज। किसी के घर कोई मर जाए और उसके घर पर माल उडाने का इन्तजाम हो—कितने शर्म की बात है। आपके घर मे कोई बीमार है—वह व्यथा से तडप रहा हो और आपको उस बीमार के सामने माल-मिठाइयां उडाने के लिए दे तो क्या वह माल-मिठाई आप खा सकेंगे? कोई नही कहेगा कि वह खा सकता है। फिर जिस घर मे अभी-अभी लाश उठी हो, परिवारजनो के आंसू अभी भी बह रहे हो और अभी भी उदासी और गमी की दशा बनी हुई है, वहां जाकर मृत्युभोज के रूप मे माल मिठाइयां उडायें—क्या इसमे भी राक्षसी वृत्ति की झलक नही है? फिर ऐसा भोग भयकर भोज कहलायेगा या नही? झूठी प्रतिष्ठा के नाम पर जो अब तक भी इस रूढि को नही छोड रहे है, उन्हे अपने विवेक को जगाना चाहिये और उन्हे ही नहीं, बल्कि उनके वहां के सघ, समाज या कि जाति को मृत्युभोजो पर प्रतिबन्ध लगाने की प्रतिज्ञा लेनी चाहिये।

फिर भयकर भोज होता है वह भोज, जिसमे तन कर अपने धन और आडम्बर का प्रदर्शन किया जाता है। एक ओर करोडो गरीब ऐसे है जिन्हे एक

है। विवाह गृहस्थ जीवन की एक रीति ही नही है, वरन् उसका एक सस्थागत स्वरूप माना जाता है। जेसे समाज मे धन की ममानता स्थापित करने के सबन्ध मे कई विचारधाराएँ बनी तो उसका उद्देश्य रोटी की सुव्यवस्था करने का था कि सभी मूलभूत आवश्यकताएँ किसी तरह पूरी हो। समाज मे जैसे रोटी की समस्या होती है, वैसे ही यौनाचार की समस्या होती है कि उसकी भी सुव्यवस्था हो जिससे समाज मे दुराचार-वृत्ति, नारी-यातना, या ऐसे ही अन्य कुकृत्य ना फैले। योनाचार को सुव्यवस्थित बनाने का साधन है विवाह की सस्था।

विवाह एक युवक और युवती के बीच ऐमा बन्धन होता है जिसे जीवन-पर्यन्त निभाया जाता है। विवाह की मार्थकता धर्मपूर्वक काम मे मानी गयी है, जिसमे दोनो पक्ष समान योग्यता, विवेक और शक्ति वाले हो तथा स्वेच्छा से नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए परस्पर जुडे। इस अनुष्ठान मे न तो लडकी के बिकने और न लडके के बिकने का सवाल पैदा होता है और न ही किसी का मूल्य उगाहने का। यह निर्णय भी सबन्धित युवक एव युवती का स्वय का ही होना चाहिये, किन्तु हितैपियो की दृष्टि से निर्णय का भार माता-पिता ने सँभाला। माता-पिता का दायित्व था कि दोनो के पारस्परिक हित मान को देखकर ही सबनध करना चाहिए, लेकिन वे अपने लाभ, मान, या लोभ के चक्कर मे पडने लगे और इस चक्कर को कामयाब बनाने के लिए मायाचार आवश्यक हो गया।

यही से बदलने लगा विवाह रूढि मे ओर ओर दहेज इसका मुख्य मायाचार हो गया। लडकी वाला घर बारात ले कर आये और लडके वालो को नारियल भेट कर मिलनी मे उमका मान करे ओर आतिथ्य-सत्कार करे—यह तो ठीक, लेकिन लडके वाला दहेज की माँगणी करे और लडकी वाले की हैसियत हो तो अलग बात, लेकिन यदि वह दहेज देने के लिए मजबूर हो तो यह रूढिगत मायाचार ही कहलायेगा। दहेज का रूप भी धीरे-धीरे विकराल होता चला गया है। लालची मा-बाप अपने बेटो की बोटी-बोटी का दाम उगाहने लगे है—आज दहेज की ऐसी दशा सामने आ गयी है।

दहेज की इसी राक्षमी वृत्ति का कुफल है कि जगह-जगह दहेज अधिक मे अधिक लाने के लिए बहुओ को यातनाएँ दी जाती है या जला कर मार डाला जाता है। दहेज देने से मजबूर मा-बाप बडी उम्र हो जाने तक अपनी बेटियो का ब्याह नहीं कर सकते हैं और उन्हे तरह-तरह के अपराधो तथा

सत्रासो का शिकार होना पडता है। कई कुमारिकाएँ इस कारण आत्महत्याएँ कर लेती है कि उनके माता-पिता अपनी मजबूरी मे छटपटा रहे हैं। इतनी दुःख-दुविधा के बाद भी लडके वाले और पैसे वाले इस रूढि को पकडे रहे—यह उनका मायाचार ही तो है—माया को वह नही छोड सकते, चाहे कइयो के प्राण छूटते क्यो न चले जाएँ। किसी ने मुझे बताया कि गत एक वर्ष मे दिल्ली मे ही दहेज के कारण साढे तीन सौ के करीब बहुएँ जला कर मार डाली गयी।

क्या ऐसी राक्षसी रूढि का एक पल के लिए भी सहन किया जा सकता है? फिर भी जो इसे जकडे हुए है क्या उन्हे सही नजर मे देखा जा सकता है? अब तो विवाह योग्य युवा-युवतियो को ही आगे आ कर इस रूढि को तेजी से समाप्त करना चाहिये। आगे जा कर माता-पिता का विरोध भी झेलना नही पडे, इसके लिए मेरा सुझाव है कि आप सब युवक-युवतियाँ प्रतिज्ञा करे दहेज नही स्वीकार करने की और दहेज की बात नही हो तो वहाँ विवाह रचाने की। ऐसा विद्रोह जरूरी है।

ऐसे भोज . मानवता पर कलक

भोज सबको प्रिय लगता है फिर वह भयकर कैसे हो सकता है, किन्तु होता है और उसकी भयकरता समझ कर वह छोडने लायक है।

पहला भयकर भोज है मृत्युभोज। किसी के घर कोई मर जाए और उसके घर पर माल उडाने का इन्तजाम हो—कितने शर्म की बात है। आपके घर मे कोई बीमार है—वह व्यथा से तडप रहा हो और आपको उस बीमार के सामने माल-मिठाइयाँ उडाने के लिए दे तो क्या वह माल-मिठाई आप खा सकेंगे? कोई नही कहेगा कि वह खा सकता है। फिर जिस घर से अभी-अभी लाश उठी हो, परिवारजनो के आसू अभी भी बह रहे हो और अभी भी उदासी और गमी की दशा बनी हुई है, वहाँ जाकर मृत्युभोज के रूप मे माल मिठाइयाँ उडाये—क्या इसमे भी राक्षसी वृत्ति की झलक नही है? फिर ऐसा भोज भयकर भोज कहलायेगा या नही? झूठी प्रतिष्ठा के नाम पर जो अब तक भी उस रूढि को नही छोड रहे है, उन्हे अपने विवेक को जगाना चाहिये और उन्हे ही नही, बल्कि उनके वहा के सघ, समाज या कि जाति को मृत्युभोजो पर प्रतिबन्ध लगाने की प्रतिज्ञा लेनी चाहिये।

फिर भयकर भोज होता है वह भोज, जिसमे खुल कर अपने धन और आडम्बर का प्रदर्शन किया जाता है। एक ओर करोडो गरीब ऐसे है जिन्हे एक

समय का पूरा भोजन भी सुलभ नही होता है, वहाँ हजारो आमन्त्रितो के भोज आयोजित किये जाएँ, उनकी तैयारी पर हजारो रुपये खर्च किया जाएँ तथा धन-धान्य की बरबादी की जाए—यह मानवता के विरुद्ध होगा।

समारोहो को सादा तरीको से भी मना सकते है। समाज मे चरित्र की अपेक्षा धन को जो प्रतिष्ठा मिली हुई है, उसी का यह दुष्परिणाम निकलता है कि अपने धन का प्रदर्शन करने और उसके बल पर विशेष प्रतिष्ठा अर्जित करने की कुटिलता सफल बनती है। ऐसे आडम्बरपूर्ण भोज या कि खर्चीली तैयारी चाहे विवाहो के अवसर पर हो या अन्य मोको पर—वह व्यक्तिगत विकारो तथा सामाजिक दुर्व्यवस्था को बढाने वाली होती है। नवधनाढ्यो के इस धनाडम्बर-प्रदर्शन के पीछे कितने मध्यम परिवारो को खून के घूंट पीने पडते है, क्या इसका कोई हिसाब भी लगाता है?

आजकल सुना जाता है कि भयकर भोज भी ऐसे होने लगे है जिनमे मासाहार परोसा जाता है। विवाह-शादी के प्रसग पर ऐश्वर्य को दिखाने की मदोन्मत्त भावना से बारात मासाहारी होटलो मे ठहरायी जाती हैं और खानपान की व्यवस्था भी वही की जाती है, इसलिए यह प्रतिज्ञा ली जानी चाहिये कि मासाहारी होटलो मे न तो हम स्वय ठहरेगे, न अपने मेहमानो को या बारातो को ठहरायेगे।

आडम्बर के रँग मे रगी रूढ़ियाँ

लोभ से लाभ और लाभ से लोभ—यह धनार्जन के तरीको को ही बिगाडता रहता है तो लाभी-लोभी व्यक्ति के आचरण को भी बिगाड कर बदबाद कर देता है। फिर आज के जमाने के मुताबिक यह लाभ दो नबर से बेशुमार होता हो तो उस धन के मद का कहना ही क्या? वह व्यक्ति को विवेकहीन बना कर उन्मत्त कर देता है। आडम्बर मे रँगी हुई सारी रूढियाँ इसी उन्माद का दुष्परिणाम है।

शादी-विवाह के प्रसग पर भौंडे तरीको से नाचना, बैड-बाजो पर पैसा बरबाद करना, हिंसाकारी आतिशबाजी छोडना और बेशकीमती डेकोरेशन करना, यह सब नवधनाढ्यो को अपनी धन-सपत्ति का प्रदर्शन करने के लिए प्रिय लगता है, किन्तु वे यह नही सोचते कि अपने लाखो गरीब एव मध्यम श्रेणी के भाइयो पर उसका कितना बुरा प्रभाव पडता है तथा समाज मे विषमता की कैसी घातक दीवारे खडी होती है? जैसे दहेज का प्रदर्शन कम सपन्न लोगो को मुसीबत मे डालता है वैसे ही आडम्बर मे रंगी-डूबी हुई

रूढियाँ भी उनकी मुसीबत को बुरी तरह से बढा देती है।

मन की गुलामी

रूढियो की घातक बुराइयो को जान कर तथा उनके दुष्परिणामो को प्रत्यक्ष देख कर भी यदि रूढियो की पकड हम पर बनी रहती है तो वह मन की गुलामी ही होगी। मन इसलिए गुलाम बना रहना चाहता है कि आप इन रूढियो से फिर भी फायदा उठाना चाहते है यानी दहेज कमाना चाहते है अथवा अपने धन-ऐश्वर्य की झूठी छाप समाज पर बनाये रखना चाहते है अथवा अपने भीतर वैसा साहस पैदा नही कर पाते हैं कि इन रूढियो के निहित स्वार्थियो से सघर्ष कर सके और रूढियो को मिटा कर रहे। मन की गुलामी का एक कारण यह भी हो सकता है कि आपके सुधारवादी आन्दोलनो को पूरा समर्थन न मिले या कि विरोध भी झेलना पडे। इन्ही रूढियो के शिकार गरीब और मध्यम वर्ग के मन की गुलामी उनकी ज्ञानहीनता और असहायता में छुपी हुई होती है। जो हो, रूढियो की पकड निश्चित रूप से मन की गुलामी मे है और मन की इस गुलामी को हटाये बिना रूढियो को मिटाया भी नही जा सकेगा। मृत देह को कन्धो पर ढोते रहने के समान इन रूढियो का बोझा भी मन का गुलाम ही ढो सकता है।

मन की ऐसी गुलामी को कैसे खत्म करे? इस गुलामी के कीटाणु हमारे सोचने के तरीको मे घुसे-फैले है। एक मध्यम वर्ग का सद्‌गृहस्थ सोचता है कि वह एक रूढि को कैसे तोडे—समाज के ताकतवर लोग उसकी गरीबी का मजाक उडा कर उसे बदनाम कर देंगे। एक नवधनाढ्य सोचता है कि इन रूढियो के जरिए वह सारे समाज को अपने वर्चस्व से प्रभावित एव आतकित बना सकता है कि उसका धन कुछ खरीद-बेच सकता है—किसी को भी नामवर या बदनाम बना सकता है। उसका मन अपने लोभ, अपने मान और अपनी माया की गुलामी मे होता है। अपने-अपने उपायो से सभी वर्गों को मन की गुलामी दूर करनी होगी।

रूढ़ियाँ छोडें

सजग व्यक्तियों को चाहिये कि वे रूढियो के गुलाम न रह कर उन कार्यों को त्यागें, जो अनुचित, हानिप्रद और निरर्थक है। रूढिया प्राणहीन ही होती हैं मृत शरीरो की तरह—जिनमे फिर से प्राण नही डाले जा सकते। इस कारण प्राणहीन रूढियो का केवल त्याग ही करना होगा। प्राणहीन रूढ़ियो की गुलामी किसी भी रूप मे बुद्धिमानी या कि सद्‌बुद्धि का परिचय नही देती है, अतः उन रूढियो को जल्दी-से-जल्दी छोडकर अपने आचरण और समाज के स्वरूप को शुद्ध बनाइये।

मनन

१२ ७ १९८७/२१ ७ १९८७

जहाँ मन की भूमिका कम-से-कम है अथवा सर्वथा शून्य है, वहाँ मनन है। मनन के लिए दो शब्द हैं—रोमन्थन और जुगाली।

रोमन्थन संस्कृत का, और जुगाली लोकभाषा का शब्द है। बार-बार सोचना/पचाना रोमन्थन है, और उदर से चबाने की प्रक्रिया में पुनः लाना जुगाली है। गाय जुगाली करती है, आदमी रोमन्थन।

नेत्र, जिनके भीतर नेत्र हैं

आमने-सामने हूँ एक जैनाचार्य के जो एक ऊँचे पाट पर, जिस पर एक कुशन है, अपना दायाँ चरण लटकाये अत्यन्त अप्रमत्त भाव से आसीन है और मेरी प्रणति को धर्मलाभ-के-रूप मे लौटा रहे है। चौडा ललाट, साँवला रग, समदर-से-गहरे नेत्र, ऐसे नेत्र जिनके भीतर नेत्र है और जिन्होने मोतियाबिंद के आघात सहे हैं—एक चश्मा मोटी फ्रेम का नाकोनक्श आध्यात्मिक, धवल चादर, मुखपत्ती मे-से झाँकता सस्मित/अथक चेहरा और मन मे सीधे गहरे उतर जाने वाली वाणी।

एक-एक शब्द सोचा हुआ। विवेक और मुनित्व की तुला पर तुला हुआ। कोई छुपाव नही है। सब कुछ खुला है/मन के तमाम रोशनदान उन्मुक्त है-कोई आच्छादन नही है उन पर। साफ-सुथरा जीवन, साफ-सुथरा मनन; सब कुछ विवेक-के-रजोहरण से प्रमार्जित और सम्यक्त्व-की-पुजणी से निर्मल।

जो कहते है, उसे सौ टका जीते हैं, और जो किया हुआ है, मानिये, उसकी जड आचरण मे पाताल तक है। बातचीत मे कोई झुंझलाहट, या चचलता नही है। कोई सवाल कीजिये, अक्षुब्ध उत्तर लीजिये। निराकुलता का एक पूरा-का-पूरा दरिया लहरे ले रहा है। चारो ओर अखूट वत्सलता की कादम्बिनी (मेघघटा) घिरी है और मै उसकी शीतल छाँव मे मन्त्रमुग्ध बैठा हूँ। तय है कि मुझे लगभग पन्द्रह दिनो तक उनसे जैन धर्म/दर्शन/समाज के विभिन्न पहलुओ पर एक बहुपर्ती बातचीत करनी है और अपने प्रिय पाठको को उनके सडसठ साला जीवन का अनुभवामृत पान कराना है। विशेषाक के सिलसिले मे मै उनके साथ किस्तो मे चौबीस घटे बिताने की चित्तवृत्ति मे हूँ।

१२ जुलाई/रविवार को पहली उपनिषद् (बैठक) हुई। मेरे लिए यह एक बेहद उपयोगी अध्यात्म-लाभ था, सत्सग/समागम का एक अद्वितीय अवसर। मेरे मित्र गजेन्द्र सूर्या मेरे साथ है। उन्होने मुझे नियमित लाने-ले-जाने का जिम्मा लिया है। वे साधु-की-चादर की तरह निष्कलक और निर्मल मन से सम्पन्न है। उन उपनिषदो मे वे सर्वत्र, प्रतिपल/प्रतिपग मेरे साथ रहे है और उन्होने देखा है कि मैने किस उत्कण्ठा से प्रश्न किये है और आचार्यश्री ने किस निर्भीकता से उनके उत्तर दिये है। यदि उन सारे चर्चा-क्षणो को लिखने

बैठूँ तो कम-से-कम एक दो-तीन सौ पृष्ठों की किताब तो बन ही जाएगी। काम मुश्किल है, किन्तु करना तो है ही।

कई कठिनाइयाँ सामने हैं। टेप-रेकॉर्डर काम में ले नहीं सकता और कोई आशुलिपिक साथ में नहीं है। यद्यपि आचार्यश्री के बोलने में त्वरा नहीं है, वे रफ्ता रफ्ता बोलते हैं और मुझे मौका देते हैं कि मैं उन्हें नोट लूँ, किन्तु मेरी भी सीमाएँ, अतः कड़ी बीच-बीच में टूट रही है- जुड़ रही है और मैं अपने काम में जुटा हुआ हूँ। हाथ अविराम चल रहा है और आचार्यश्री अत्यन्त आश्वस्त स्वर में मुझे मेरी जिज्ञासाओं के समाधान दे रहे हैं।

कुल मिला कर ये बैठकें मन प्राण को ताजा किये हुए हैं और एक इस तरह की दीपमालिका मनोपटल पर सँजोये हुए हैं कि कैसा भी अँधेरा आये मुझे निराश होने की जरूरत नहीं होगी। जैन धर्म/दर्शन के ऐसे कितने पक्ष हो सकते हैं, जिनकी तुलना हम आधुनिक विज्ञान के विविध इलाकों में कर सकते हैं—यह देख कर मैं हैरान हूँ।

मैं उनसे मुखातिब हूँ। लग रहा है मुझे कि यदि साधुमार्गी जैन संघ ने ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की कि आचार्यश्री के भीतर खुले ज्ञान-निर्झर जन-जन तक पहुँचे तो यह एक ऐसी भूल होगी जिसे कभी सुधारा नहीं जा सकेगा, हम सब एक ऐसे अमृत-कुण्ड से वंचित रह जाएँगे जो आज के राह-भटके आदमी को सही दिशा दे सकता है- उसके तन-मन को ठण्डक पहुँचा सकता है।

जैनाचार्य नानालालजी आग्रही बिलकुल नहीं हैं। वे सहज हैं। उन्हें कदाच कभी ऐसा लगता है कि उनका पाँव किसी भ्रम या त्रुटि पर है तो वे तुरन्त आत्मस्वीकृति या आत्मशोधन के लिए तैयार रहते हैं।
ऐसे कई मौके आये जब उन्होंने अपनी बात को बड़े आश्वस्त चित्त से रखा और दूसरों के विचारों को खूब धीरज से सुना। उनके सामने छोटा-बड़ा कुछ होता नहीं है।

घर का 'नाना' किसी की व्यर्थ की 'हाँ-हाँ' में नहीं पड़ता जैसा कि आमतौर पर कुछ साधु सस्ती लोकप्रियता-के-लोभ में वैसा करते देखे जाते हैं। वे 'ना' कह सकते हैं एक बार, दो बार, किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वे

'हां' कभी कहते ही नही। सम्यक्त्व और सत्य के लिए उनके मन मे प्रतिक्षण 'हां' है और मिथ्यात्व के लिए प्रतिपल 'ना'। वे साहसी है, सरल है, निर्ग्रन्थ हैं।

उनकी गठरी मे ग्रन्थ हैं, ग्रन्थियां नही है। मन को ग्रन्थियो से मुक्त करने के लिए उन्होने 'समता-दर्शन' और 'समीक्षण-ध्यान' जैसी आध्यात्मिक प्रक्रियाओ को आविष्कृत किया है। ये दोनो, भारतीय चिन्तन, विशेषत अध्यात्म को उनका बहुमूल्य योगदान हैं। वे सत्यान्वेषी है और चाहे जो/चाहे जब उनके पास आये उसे सत्य की खोज मे प्रवृत्त करने मे रुचि लेते हैं। चुनोतियो को झेलने मे उन्हे आनन्द मिलता है। सम्यक्त्व-के-लिए पराक्रम और सघर्ष नानालालजी की एक विशिष्टता है। शाम के पॉच बजकर पांच मिनिट हुए हैं। १२ जुलाई/रविवार का दिन है। इतवारिया धर्मशाला का आचार्यश्री का पडाव-कक्ष है। मै उनके स्वास्थ्य के बारे मे पूछताछ कर रहा हूँ। वे कह रहे है अत्यन्त स्निग्ध टोन मे- 'डॉक्टर साहब' (उनकी उस वात्सल्यमयी टोन को शब्दांकित करना सभव नही है)। मैने आसन खीच लिया है और मै उनके बिलकुल नजदीक हो गया हूं। मन मे नाना जिज्ञासाएँ है। कई साधु-सतो से मिला हूँ, कई आचार्यो से भेंट हुई है, किन्तु यह अवधूत उन सब से भिन्न है— जुदा है। अपनी जिदो पर अड़ा है (इन्हे ज़िद कहा जाए या शुद्धता, कोई फैसला नही कर पा रहा हूं), किन्तु जिस रेखा पर ये खडे है वह सुचिन्तित है, जल्दबाजी मे निर्णीत नही है। वे ध्वनि-विस्तारक या टेप-रिकॉर्डर का उपयोग नही करते, क्यो नही करते? इसके उनके अपने तर्क है। उनका मानना है कि इससे वायुकायिक जीवो की विराधना होती है— जैनाचार मे इनकी कोई सगति नही है।

दूसरी ओर उनकी यह दलील भी है कि ऐसा न करने से अपरिग्रह का अंकुश लगातार बना रहता है। कीर्ति की मूर्च्छा कम होती है और श्रोता सावधानी तथा मनोयोग से सुनता है। यन्त्रीकरण की जटिलताओ से भी बचा जा सकता है। यन्त्रो का कोई अन्त नही है। आज एक को काम मे लीजिये, कल दूसरा अनिवार्य हो उठेगा, परसो तीसरा दरवाजा खटखटायेगा और आपकी साधना भग्न, या गुम हो जाएगी। आप कुछ कर ही नही पायेंगे, इसलिए यदि परेशानियो को कम करना हो तो मशीनो-के-दल्ल से स्वयं को बचाना चाहिये। मुझे लगा कि खादी पहिनने के पीछे भी इन्हीं

यही सिलसिला है— जवाहरलालजी के मन मे भी यही रहा होगा। मैं पूछ रहा हूँ कि आज से बावन साल पहले जब आपने दीक्षा ग्रहण की थी तब के और आज के श्रावक मे क्या फर्क आ गया है? बोले— बदलाव हुआ है। वात्सल्य घटा है। पहले गुप्तदान द्वारा बिना कोई अहसान जताये एक श्रावक दूसरे श्रावक की मदद करने मे गौरव समझता था, अब वैसा नही है, किंचित् है, किन्तु वह बात/वह रगत नही है। शिथिलताओ से तो हर जमाने मे जूझना पडा है। सघर्ष आज भी जारी है— जारी रखना चाहिये इसे ताकि प्रमाद से बचा जा सके और धर्म की मौलिकताओ को बचाया जा सके। साधुओ और श्रावको की भूमिकाएँ वस्तुत अलग- अलग नही है। दोनों पूरक हैं। स्वाध्याय, सेवा और शुद्धाचरण मे हम अपने युग की अनेक समस्याओ का समाधान तलाश सकते है।

१३ जुलाई/सोमवार को उपनिषद् का तेवर/जायका बिलकुल जुदा था। सिलसिला वही था। प्यास और तडप की किस्म भी वही थी, किन्तु मोड बदल गया था। बोले— हमे सात्त्विक ज्ञान के लिए लोगो मे एक रचनात्मक जिज्ञासा जगानी चाहिये। लोग दुनियावी ज्ञान की ओर दोड रहे हे, किन्तु इस भागमभाग मे उनका सब से बडा नुकसान हो रहा है सम्यक्त्व का मुट्ठी से खिसकना। बोले—
समता-दर्शन और समीक्षण-ध्यान दो ऐसे अस्त्र है, जिनसे हम आज के युग की विषमताओ के महाभारत को जीत सकते हैं। आचार्य जवाहरलालजी महाराज के कारण स्वाध्याय की वृत्ति लोटी है— पुनरुज्जीवित हुई हे। स्वाध्याय को हमे अपने जीवन का अभिन्न अग फिर बनाना चाहिये और ऐसे प्रयत्न करने चाहिये कि सामाजिक रागद्वेष घटे और साधु तथा श्रावक एक-दूसरे के नजदीक आये। वस्तुत उन्हे एक-दूसरे की शोधक इकाइयो के रूप मे विकसित होना चाहिये। 'समता-दर्शन' के विविध सोपानो की चर्चा करते हुए उन्होंने उसके स्वरूप पर व्यापक प्रकाश डाला।

१४ जुलाई/मगलवार को समता-दर्शन पर चर्चा हुई। बोले— हमे समता-दर्शन के इक्कीस सूत्रो का पालन करना चाहिये। मैंने अनुभव किया है कि सामान्य बातो मे-से ही विशिष्टता आविर्भूत होती है। इन सूत्रो मे-से गुजरते हुए हम एक तरह की सामायिक या समाधि मे-से गुजरते है। श्रावक को हक है कि वह किसी भी शिथिलता को चुनोती दे, किन्तु दे उसे

दूर करने के लिए— किसी को नीचा दिखाने के लिए नही। चुनोती का स्वरूप रचनात्मक हो, उपगूहनात्मक हो, और सद्भावनापरक हो। श्रावक की हैसियत इतनी वडी है कि यदि वह आगमोक्त कसौटियो का जानकार है तो आचार्य तक को चुनौती दे सकता है। इन/ऐसी परम पावन चुनोतियो के कारण ही साधुमार्ग निष्कलक बना हुआ है। हम एक-दूसरे को गलत नही समझते, बल्कि एक-दूसरे को परस्पर उपकारक इकाई मानते हैं। दृप्टि ऐसी ही होना चाहिये— विकास करना चाहिये इस तरह के उदार और सहिष्णु व्यक्तित्व का।

जब प्रसगवश प्राकृत भापा और साहित्य की बात चली तो बोले— उनका भरपूर प्रचार होना चाहिये। प्राकृत सरल है। उसका उच्चारण और वाक्य-विन्यास सरल है। उसे कुछ ही दिनो मे सीखा जा सकता है। सघ इनके लिए काम कर रहा है। वास्तव मे यदि जैनधर्म को जानना है, उसकी तमाम गहराइयो मे, तो प्राकृत सीखे बिना कोई रास्ता नही है।
जब साधुमार्ग के साधुओ और श्रावको के परस्पर सबन्धो की चर्चा चली तो बोले— साधुमार्ग बहुत पुराना है। जितना पुराना णमोकार महामन्त्र है, उतना पुराना है साधुमार्ग। साधुमार्ग मे गुण और कर्म को महत्त्व दिया गया है। उसमे गुण-पूजा है, व्यक्ति-पूजा नही है। इसी तरह श्रावक हो या साधु, कर्म से ही उसे जाना जा सकता है। भगवान् महावीर का वह कथन कि कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है और कर्म से ही शूद्र—जन्म से कोई कुछ नही होता। उसी तरह कर्म से ही श्रमणोपासक की पहिचान बनती है, वह जिस वश मे जन्मता है, उससे उसकी पहिचान नही बनती।

१५ जुलाई/बुधवार को धर्म और विज्ञान पर चर्चा हुई। बोले—
शास्त्र की दृष्टि मे जो विज्ञानवान् है वह आत्मा है और जो आत्मा है वह विज्ञानवान् है। विज्ञान वस्तुत आत्मा का मूलगुण है। कही कोई छलावा नही है, सब कुछ अनेकान्तात्मक है। हमारा लक्ष्य आत्मा का शुद्ध स्वरूप है तदनुसार ही हमारी सपूर्ण साधना है। हमे समझना चाहिये कि धर्म और विज्ञान परस्पर पूरक है, वे एक-दूसरे मे सघर्षरत नही है। असल मे जब हम खोजना शुरू करेंगे, तभी कुछ पायेंगे। जैनधर्म विज्ञान का अटूट खजाना है। हम अभागे है कि हमसे बारबार उसकी कुजी गुम जाती है। हमे इस खजाने

का न सिर्फ खुद उपयोग करना चाहिये वरन् सारी दुनिया के लिए उसे खोल देना चाहिये।

१६ जुलाई/गुरुवार को तीर्थंकरो के अवदान पर विचार हुआ। मैने कहा— तीर्थंकर अपने युग के सर्वश्रेष्ठ परमाणुविद् थे। उन्होने इसे अपनी साधना मे दिगम्बर देख लिया था। सवर-निर्जरा की प्रक्रियाएँ बिना परमाणु-दर्शन के तीव्रतर नही हो मकती। बोले— तीर्थंकरो की यह विशेपता है कि उन्होने अपने पूर्व तीर्थंकरो को न कभी पढा ओर न कभी सुना, बल्कि मृष्टि के निगूढ रहस्यो को तप साधना से जाना तथा जानने के लिए स्वय के जीवन को प्रयोगशाला का रूप दिया।

पदार्थ की जो परिभापा आज विज्ञान दे रहा है, वह तीर्थंकर सदियो पहले दे चुके है। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' ओर 'गुणपर्यत्रद्द्रव्य' के रहस्य को समझ लेने पर पदार्थ की गहराइयो मे उतरने मे कोई कठिनाई नही है। आज का वेज्ञानिक यन्त्रो ओर औजारो मे उलझ गया है, आत्मतत्त्व उसकी मुट्ठी मे खिमक गया है। हमारी पारिभापिक शव्दावली का यदि एक अनामक्त और विश्लेपण किया जाए तो हम पायेगे कि धर्म आज भी विज्ञान मे दो कदम आगे है। विज्ञान उन्ही दार्शनिक तथ्यो की पुष्टि कर रहा है, जिन्हे आज मे मदियो पहले धर्म ने स्थापित किया था। मापेक्षता शुद्ध ज्ञान की माता हे। वे अल्वर्ट आइन्स्टाइन का नाम लेते हुए बोले— विज्ञान ने इसे विलम्ब मे खोजा ओर अपनाया, किन्तु जबमे भी उमने इसे अपनाया है

उमकी जययात्रा अधिक सफल-मार्थक सिद्ध हुई है। पता नही अव क्यो हम इम स्वस्थ चिन्तन-पद्धति को विस्मृत करना चाहते हैं? ध्यान रखिये, जैनाचार्यो ने भोतिकी, जैविकी, गणित जैमी जटिल/सूक्ष्म विद्याओं पर भी काफी गहरा विमर्श किया है।

छह दिन के अन्तराल के वाद आज फिर गजेन्द्र सूर्या आचार्यश्री के पडाव पर ले गये है। -२२ जुलाई/बुधवार है। पुनर्जन्म के मिद्धान्त पर चर्चा कर रहा हूं। पुनर्जन्म एक जटिल ममस्या है। कुछ पुनर्जन्म को मानते हैं, कुछ नही मानते, किन्तु जो आत्मा का अस्तित्व मानते है उन्हे तो पुनर्जन्म मानना ही होता है। मैने पूछा कि इम संबन्ध मे जेनधर्म की क्या धारणा है? बोले— पुनर्जन्म का सीधा-मादा अर्थ है एक शरीर को छोड़कर अगले शरीर

में प्रवेश। जैनधर्म का 'उत्पादव्ययध्रौव्य' सिद्धान्त इससे जुड़ा हुआ है। शरीर अनित्य है, आत्मनित्य: पर्याय अनित्य है, द्रव्य नित्य है। संवेदना का विश्लेषण करने पर भी पुनर्जन्म को जाना जा सकता है। पूर्व-स्मृति से भी इसकी पुष्टि होती है। शास्त्रों में जाति-स्मरण की अनेक घटनाओं का विवरण आया है: वर्तमान में भी इस तरह की सैकड़ों घटनाएँ देश-विदेश में हुई हैं/होती रहती हैं। परामनोविज्ञान ने भी पुनर्जन्म के समर्थन में तथ्यों का आकलन किया है। असल में सफलता की असली कुंजी तत्वश्रद्धान है— इसके मिलने पर पुनर्जन्म स्वतः सिद्ध दिखायी देता है। ध्यान की प्रक्रिया में से होकर भी पुनर्जन्म की सत्यता सिद्ध होती है।

चूँकि सूरज डूबने को था, अतः पटाक्षेप हुआ और चर्चा को दूसरे दिन के लिए रोक लिया गया।

२३ जुलाई/गुरुवार/शाम लगभग डेढ़ घंटे तक कर्मसिद्धान्त पर चर्चा हुई। चर्चा कुछ गहरी और तकनीकी थी। आचार्यश्री बोले— डॉक्टर साहब संपूर्ण जैनदर्शन कार्य-कारण पर टिका हुआ है। यहाँ किसी तर्कहीन तथ्य को स्वीकार नहीं किया गया है। कर्मसिद्धान्त की आधार-भूमि कार्य-कारण-नियम (लॉ ऑफ कॉजेशन) है। इससे भी पुनर्जन्म का सिद्धान्त पुष्ट होता है। जैन कर्मसिद्धान्त 'जैसा बोना, वैसा काटना' तक ही सीमित नहीं है— वह इससे बहुत आगे और गहरे गया है।

२४ जुलाई/शुक्रवार को 'साधु और साधुमार्ग' टॉपिक छिड़ गया। आचार्यश्री बोले— मैं 'साधु' शब्द को विशेषण-रूप में ही लेता हूँ। साधु से साधुत्व बनता है। साधुत्व अच्छाइयों, सुकृतों और आदर्शों का सहायोग है। वह जैनोपासक के लिए मानक है, आदर्श है।

मैं द्रव्यसाधुत्व के पक्ष में तो हूँ, किन्तु उसे भावसाधुता का साधन-मात्र मानता हूँ। द्रव्यसाधुत्व साध्य नहीं है, साधन है; साध्य भावसाधुत्व ही है। साधना में जब तक अविकलता नहीं बनती, कुछ घटित नहीं होता। इसके लिए आलोचना, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान जरूरी हैं। आलोचना वर्तमान का प्रमार्जन है, प्रतिक्रमण अतीत का धारावाहिक/सावधान अवलोकन और प्रत्याख्यान अनागत में दृढ़तापूर्वक क़दम उठाते जाने का त्याग-संकल्प है। बुनियादी लक्ष्य समत्व है। जब तक हम विषमताओं और

ग्रन्थियो से मुक्त नही होते, सत्य के नजदीक नही पहुँच सकते। समत्व तक पहुँचने या सम मे उतरने का माध्यम है द्वन्द्वमुक्ति। जैसे-जैसे हम समत्व की गहराइयो मे गोते लेते हैं, वैसे-वैसे उत्तरोत्तर हमारी मूर्च्छा घटती जाती है। साधु वह है जो समता से साक्षात्कार करे। समत्व और सम्यक्त्व एक ही हैं। दोनो एक-दूसरे मे गड्डमड्ड हैं, एक को पाने मे दूसरे की प्राप्ति निश्चित है। शिथिलाचार और क्रियोद्धार का सक्षिप्त इतिहास बताते हुए उन्होंने कहा— साधुमार्ग ने शिथिलाचार का कडा मुकाबला किया है, यही कारण है कि वह आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है और जैनधर्म की मौलिकताओ की अचूक रक्षा कर रहा है।

२५ जुलाई/शनिवार को साधुमार्ग की विशेषताओ पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा— मैं तो अपने साधु-साध्वियो को भाई-बहिन मानता हूँ। मेरे यहाँ छोटे-बडे का कोई भेद नही है। एक सस्मरण सुनाते हुए बोले— एक बार जब मैं सीढियाँ चढ़ रहा था, एक साधु ने जो मुझे पहिचान नही पाया पूछा— 'कौन है?' मैंने कहा— 'नाना'। 'आचार्य' मैंने नही कहा, 'नाना' कहा। आचार्यत्व परिग्रह है। मैं इसे सहज लेता हूँ, इसे अहकार की तरह पर्त-दर-पर्त जमने नही देता। साधुमार्गी सघ मे कोई छोटा-बडा नही है। सब समान हैं।

साधुमार्ग की विशेषताओ को सक्षेप मे बताते हुए उन्होंने कहा— साधुमार्ग निष्कण्टक नही है, वह दिखता सरल है, है कठिन। मर्यादा-पालन, अनुशासन, आत्मानुसधान, नि शक/स्वतन्त्र चिन्तन, अनवरत स्वाध्याय, सत्य की खोज, शिथिलाचार का विरोध और उससे बचाव, सम्यक्त्व मे निश्चलता, सादगी, सारल्य, निष्कपटता, प्रजातान्त्रिक जीवन-पद्धति, राष्ट्रीय दृष्टि, लोकहित के लिए कटिबद्धता, रचनात्मक परिवर्तन के लिए अनुकूलता, उदारता, विनय, तितिक्षा, सगठन, समन्वय, समत्व, विश्वमैत्री इत्यादि साधुमार्ग के मूल आधार है।
समतादर्शन उसकी खास बुनियाद है। व्यक्ति और समूह मे युगयुगो मे पडी ग्रन्थियो को खोलना इसकी आरम्भिक प्रक्रिया है। खोलना और गलाना, गलाना और निकाल फेकना इस प्रक्रिया के प्रमुख चरण हैं।

२६ जुलाई/रविवार और २८ जुलाई/मगलवार को अधिक चर्चाएँ नही हुईं। किन्तु एक महत्वपूर्ण वाक्य आज/इस क्षण भी मन पर टिका हुआ है—

विकाम की ओर हमारा ध्यान है। धर्म मे वय की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्व दिया गया है।

फिर एक लम्बा कालान्तर (गैप) आ गया। 'माधुमार्ग विशेषाक' की तैयारी चल रही थी। प्रेस को मैटर (मुद्रण-सामग्री) देना था, अत मैंने पन्द्रह दिनो मे कुछ अधिक की छुट्टी ले ली और फिर १९ अगस्त/बुधवार को उनमे मिला। इम वार कपाय पर चर्चा चली। ममीक्षण-ध्यान मे इन पर जुदा-जुदा विचार होता है ताकि व्यक्ति के भीतर जो मघन ग्रन्थियाँ अवस्थित है, उन्हे खोला जा सके। बोले—
कपाये वधन मे डालने वाली दुष्प्रवृत्तियाँ है। मरल शव्दो मे, आत्मा के भीतरी कलुप परिणाम का नाम कपाय है। आत्मा के स्वरूप का घात करने के कारण कपाय सव मे वडी हिंमा है। मिथ्यात्व मव मे वडी कपाय है। आमक्ति की तीव्रताओ की दृष्टि मे कपाय के चार भेद है— अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन। क्रोध, मान, माया, लोभ से गुणा करने पर भेद मोलह हो जाते हैं। जैसे ही चर्चा ने शास्त्रीय मोड लिया मैंने कहा— आप तो कपाय का अर्थ वताइये और वताइये कि यह अहितकर क्यो है? वोले—क्रोध आदि कलुपताएँ कपाय है। चूंकि ये आत्मा के स्वभाव को 'कप' ती हैं अर्थात् उसकी हिंसा करती है इमलिए इन्हे कपाय कहते है। इसी मदर्भ मे प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभाग वधो पर भी चर्चा हुई। वोले— मव कुछ वैज्ञानिक है। जैनदर्शन मे एक भी शव्द फिजूल नही है।

वहा मव कुछ सार्थक और प्रामगिक है। निर्मल अन्तर्दृष्टि चाहिये, उसके विना कुछ नही होगा। मेरे द्वारा पुन प्रस्तुत 'समीक्षण-ध्यान' व्यक्ति और ममाज दोनो के लिए उपयोगी है। जव क्रोध, मान, माया और लोभ का समीक्षण करते है, तव मन की ग्रन्थियाँ आपोआप खुलने लगती हैं। चित्त निर्ग्रन्थ होने लगता है। रागद्वेष गलने लगते हैं।
राग-द्वेष इस तरह कुछ अनन्य हैं कि राग मे द्वेष और द्वेष मे राग गर्भित हुआ है। किसी एक को छोडने पर दूमरा अपने-आप विदा हो लेता है।

२० अगस्त/गुरुवार को आचार्यश्री ने समीक्षण-ध्यान को व्यौरेवार ममझाया।

२१ अगस्त/शुक्रवार को तप पर चर्चा हुई। वोले— जैन तप भेद-विज्ञानमूलक है। यदि वहाँ यह दृष्टि नही है तो तप कितना ही क्यो न हो, व्यर्थ और

निष्फल है। तप तप है, उसका विज्ञापन नही किया जाता। तप सम्यक्त्व के लिए की गयी उत्कट साधना का नाम है। मैं तप के प्रचार पर, उससे सबन्धित जुलूसो और शोभायात्राओ पर बराबर अकुश रखता हूँ। वह साधु ही क्या, जो सत्य कहने मे झिझक अनुभव करता हो। मैं तो श्रावक का भी उपकार मानता हूँ। वे मुझे सयम मे सावधान रखते हैं। जब कोई श्रावक मुझे मेरी त्रुटि बताता है, तब मैं उस त्रुटि की आलोचना करता हूँ, उस पर ध्यान देता हूँ और बताने वाले के प्रति कृतज्ञता अनुभव करता हूँ। दोष जानने चाहिये ताकि उन्हे यथासमय दूर किया जा सके। बोले— दवाई तो हम लेते है, किन्तु बाद को प्रायश्चित्त अवश्य करते है। साधुमार्गी सघ मे साधु-साध्वी मे कोई भेद-भाव नही है। सयम के धरातल पर सब बराबर हैं। मैं उन्हे गुरु-चेले की नज़र से कभी नही देखता, बल्कि भाई-बहिन मानता हूँ। मैं अपने कार्य मे लगा रहता हूँ।

मुझे यदि कोई योग्य साधु मिल जाए तो मैं पूरी तरह से आत्मोन्नयन मे लग सकता हूँ। आत्मशुद्धि ही साधु का सर्वस्व है। यही उसका मूलधन है। वह कम या नष्ट होता है तो फिर कुछ बच नही रहता।

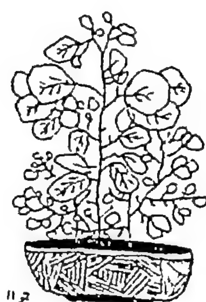
ऐसे ही, क्रोध पर अपने विचार प्रकट करते हुए बोले—
क्रोध एक किस्म की विवेक-शून्यता है। मेरे पिता मे क्रोध अधिक था, माँ मे बहुत कम था। क्रोध का मूल कारण अज्ञान या गलतफहमी है। क्रोध छुतहा रोग है, इससे बचना चाहिये। मौन और क्षमा इसके मुख्य उपाय है।
ईश्वर के स्वरूप पर चर्चा चली तो बोले— ईश्वर क्या है? दुनिया के सारे प्रकाश यदि जोड दिये जाएँ तो जो जोड बनेगा उसका नाम ईश्वर है। ईश्वर प्रकाश का कैवल्य है। ज्ञान और प्रकाश पर्याय हैं। दोनो दो अलग अस्तित्व नही है।

खादी की बात चली तो बोले— आचार्य गणेशीलालजी महाराज खादी धारण करते थे। आचार्य जवाहरलालजी महाराज ने उसे सघ के लिए अपरिहार्य बनाया। खादी की पृष्ठभूमि पर अहिंसा और राष्ट्रीयता दोनो हैं, पावनता भी है। मै/हमारे तमाम साधु-साध्वी खादी का ही उपयोग करते है। यह त्याग का प्रतीक भी है।

इस तरह कई किस्तो मे उनमे विविध विषयो पर २४ घटे बातचीत हुई। इतनी कम जगह मे उस सबको समेटना सभव नही है, फिर भी इन अशो मे उनका अतरग तो झलक ही आया है— छलक-छलक पडा है। मुझे विश्वास है इन बिन्दुओ को स्वाध्याय की प्रक्रिया मे सिन्धुओ मे अवश्य परिवर्तित किया जाएगा। □

सूक्ति-गंगा

विषमता मनुज को विकृत करती है। वह विकृत मन से अपना व्यवहार प्रदूषित करता है तथा इस तरह विकृति का समाजीकरण हो जाता है।



सूक्ति-गंगा

स्वय करना होगा

अपनी आत्मा की मलिनता धोने और उसे सँवारने का काम स्वय को करना होगा। परमात्मा ने मनुष्य-देह मे रह कर विकास का जो मार्ग वताया है, उसके अनुरूप यदि मानव चलने की तैयारी कर ले और अपने कार्य कलापो को तदनुरूप ढाल ले तो वह अपने मन की गति को भी एकाग्र वना सकता है तथा अपनी आत्मा के मूल रूप को भी पवित्र वना कर सँवार सकता है।

●

फल मिलता ही है

धैर्य कभी नहीं छोडना चाहिये। कर्त्तव्य-निष्ठा से सत्य कर्म करने वाले को आपत्तियाँ आने पर भी सफलता अवश्य मिलती है। निष्काम भाव से कर्त्तव्य-पालन करने वाले को मर्वतोमुखी फल जरूर मिलता है, जिससे वह उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है।

●

दूरदृष्टि

सूक्ष्म निरीक्षण दूरदर्शिता का द्योतक है। वह इन्सान को आपत्तियो से वचा लेता है।

●

कोई विरल ही

अभिमान की अवस्था जव अत्यन्त दृढीभूत वनती है, तव उसे लचीला वनाने मे कोई विरल व्यक्ति ही कामयाव हो सकता है।

●

जितनी प्यास, उतना जल

जिस प्रकार जितनी तीव्र प्यास होती है, जल उतना ही शान्तिदायक होता है, ठीक वैसे ही जीवन की अधार्मिकता के घनत्व के अनुसार गुण-ग्राहकता की वृत्ति भी गहरी होनी चाहिये। अधार्मिकता का अन्त गुण ग्राहकता मे ही सभव है।

●

प्रशंसा जहरीला सांप

प्रशंसा जहरीले सर्प के समान है। अगर इसका जहर तुझे चढ़ गया तो तू नष्ट हो जाएगा।

क्रोध/अभिमान

क्रोध की अपेक्षा अभिमान की अभिव्यक्ति को समझने के लिए अधिक पैनी दृष्टि की आवश्यकता है, किन्तु क्रोध को देखते ही प्रज्ञा समीक्षण-दृष्टि के साथ इतनी सक्षम हो जाती है कि फिर मान को देखने में सुगमता आ जाती है।

संघर्ष में भय-मुक्त

जो मनुष्य संघर्ष से भय खाता है और उससे अलग रहना चाहता है, वह अपनी कायरता को पुष्ट करता है। संघर्ष कोई बुरी वस्तु नहीं है, वह जीवन-विकास का मुख्य साधन है। जिस जीवन में संघर्ष नहीं है, उसे जीवन नहीं कहा जा सकता।

यह सोचो

'दुनिया क्या देख रही है', इस पर विचार मत करो। 'तुम क्या देख रहे हो' इसी का विचार करो। 'इस काम से दुनिया क्या कहेगी' यह न सोच कर 'मेरी पवित्र आत्मा क्या कहेगा' यह सोचो।

नया रास्ता भी सम्भव

इन्सान की बुद्धि नदी-के-पानी की तरह प्रायः अपने दायरे में घूमा करती है कभी-कभी तूफान आने पर नदी-का-पानी इधर-उधर फैल कर नयी नदी भी तैयार करता है। वैसे ही मनुष्य-की-बुद्धि भी कभी-कभी नया रास्ता/नयी वस्तु का निर्माण करती है।

दूसरा पक्ष भी

सामाजिक जीवन में रहते हुए कर्तव्य के एक ही पक्ष को नहीं पकड़ना है कि बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने से ही कर्तव्य की इतिश्री हो जाएगी। इसी कर्तव्य का दूसरा पक्ष यह भी है कि आप अपने एवं अपने परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के प्रति आन्तरिक जागरण के कर्तव्य को भी समझें।

विष-के-झाड़

विष-वृक्ष अनेक प्रकार के होते हैं, यथा- अफीम, आक, धतूरा आदि। ये विष-वृक्ष तो स्पष्ट ही अभिव्यक्ति पा जाते हैं, किन्तु कई ऐसे विष-वृक्ष होते हैं जिनका ऊपरी हिस्सा तो मनोहर/ललित लगता है, किन्तु परिणाम उनका प्रतिकूल होता है। ऐसे विष-वृक्ष की तुलना मान से की जा सकती है।

आडम्बर अर्थात् दम्भ

जिसमें जितनी सजावट होगी, उसमे उतना ही नकलीपन होगा। आडम्बर दम्भ का द्योतक है। जिसे वस्तु-स्वरूप का ज्ञान नही होता, वही आडम्बर को पसद करता है।

●

सफलता-की-चावी

दृढ निश्चय एव तदनुसार आचरण ही सफलता की कुजी है। किसी भी तरह की आपत्ति से लेशमात्र भी नहीं घवराना चाहिये। आपत्ति को आपत्ति न मान कर जीवनविकास की साधन-सहचरी मानना चाहिये।

●

मन को वनायें निश्चल

धर्म को जीवन मे रमाने के लिए मन को पवित्र वनाना होगा, जिसकी पवित्रता का अचूक/अमोघ साधन है- तप। तप के वाद वाह्य/आभ्यन्तर रूपो की आराधना करते हुए मन को निश्चल एव शुद्ध वनाया जा सकता है।

●

सदाचार तीक्ष्ण छैनी

सदाचार एक ऐसी तीक्ष्ण छैनी है जो प्रतिपक्षी आचरण का समूल उन्मूलन कर देती है, अर्थात् वुरे आचरण को समूल नष्ट कर देती है। मानव-जीवन के उन्नयन के लिए यह एक निरवद्य अस्त्र है, जिसे दूसरे शब्दो मे अशस्त्र भी कहा जा सकता है।

●

अनासक्त वनें

चित्त में अनासक्ति की भावना रहनी चाहिये। यदि आकाक्षाएँ पैदा होती है तो साधु-जीवन सुरक्षित नही रह सकेगा। जिन विषयो, या पदार्थो का परित्याग किया है उनके प्रति साधु को नासिका-श्लेष्म की तरह अनासक्त रहना चाहिये।

●

विकार-की-पहचान

सकुचित विचार-धारा द्वेषभाव की प्रतीक है। वडे-वडे नेता मुझसे मिलें, मेरे भक्त वन कर मेरा यशोगान करे, ऐसी भावना द्वेष-युक्त विकारी मन की पहचान है।

●

केन्द्र विन्दु

आजकल अधिकाश मनुष्यो का केन्द्र-विन्दु जड वना हुआ है। वह वाह्य भौतिक रूप को ही प्राप्त करने मे अपना श्रेय समझते हैं। आज के इन्सान मे वास्तविक प्रेम का सचार केन्द्र विन्दु के परिवर्तन मे ही हो सकता है, मगर वह शिक्षित एव प्रतिष्ठित रह जाने वालो के अधीन है।

●

कल्पतरु से बढ़ कर

सदाचरण कल्पतरु से भी बढ़ कर है। स्व-पर मनोवांछित अभीष्ट सिद्धि की उपलब्धि कराने वाला है। शर्त यही है कि वह वास्तविक हो, आत्म-प्रसूत हो, अध्यात्म के धरातल पर हो। इसका वर्गीकरण हो सकता है, टुकड़े नहीं हो सकते। कक्षाएँ बन सकती है, विभेद नही, अर्थात् शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार इसे अपनाया जा सकता है।

●

विषमता-का-विष

विषमता मनुष्य के मन को विकृत बनाती है। मनुष्य विकृत मन से अपना व्यवहार विकृत बनाता है और इस तरह विकृति का समाजीकरण होने लगता है।

●

निर्जीव श्रम

धृति-सहित कृति कला का रूप ले लेती है, जबकि धृति-रहित कृति निर्जीव परिश्रम मात्र है।

●

वचन-दर्पण

वचन एक दर्पण है। चतुर पुरुष वचनो के अन्दर इन्सान का आन्तरिक प्रतिबिम्ब देख सकते हैं।

●

सफल संस्थाएँ

जितनी भी साम्प्रदायिकता से अनुप्राणित संस्थाएँ हैं, वे प्राय साम्प्रदायिकता के अलावा निर्लक्ष्य होती है। निश्चित लक्ष्य न होने से वे प्रतिगामी बनी रहती हैं। प्रगतिशील संस्थाएँ निश्चित लक्ष्य को ले कर चलती हैं, अतएव वे सफल संस्थाएं कही जा सकती हैं।

●

जीवन-यात्रा

जीवन के यात्रा-काल मे किसी भी इन्सान को पापी या दुष्ट, कुपात्र या नीच कहना अथवा समझना, स्वय को वैसा बनाता है। प्रत्येक इन्सान के साथ प्रेमपूर्वक पेश आना, उसकी स्थिति, समय की स्थिति एव उस स्थान के वातावरण को देख कर सहानुभूतिपूर्वक पवित्र एव व्यापक वायुमण्डल का निर्माण करना जीवन-यात्रा का कर्तव्य होना चाहिये।

●

विषमता-के-विस्फोट

विषमता सपन्न और विपन्न दोनों को अशान्त बनाती है। सपन्न इस कारण अशान्त रहता है कि क्यों न वह सारी सम्पत्ति को केवल अपने और अपनों के लिए सचित कर ले — तो विपन्न की अशान्ति का कारण स्पष्ट होता है कि वह अपने पेट की आग को भी बुझाने मे सफल नहीं होता है।

यह अशान्ति ही फैलती हुई अलग-अलग स्थानो और स्तरो पर विविध रूपो मे विस्फोट करती रहती है। विषमता-के-ये-विस्फोट मनुष्य-जाति की श्रेष्ठ प्रगति को विनष्ट करते हैं।

●

समता-दर्शन

समता-दर्शन गुण और कर्म की दृष्टि से किये गये मनुष्य-जाति के वर्गीकरण मे विश्वास करता है। गुण और कर्म का वर्गीकरण चारित्र की प्रेरणा देता है और इस मान्यता से मनुष्य चारित्र-सपन्नता की ओर आगे बढे— समता का सही तात्पर्य यही है।

●

ऊपर उठ कर

आध्यात्मिकता की ओर गति करने का स्पष्ट पाथेय समता है। समता का सही अर्थ जीवन मे स्वार्थवादिता एव पदार्थवादिता से ऊपर उठ कर सर्वजनहित की कल्याण-कामना से आत्मविकास है।

●

सीखें सूरज से

सूर्य समभाव से अपनी गति करता है। बादलो की विषमता से वह विचलित नही होता। वास्तव मे यह भूतल समता-की-दृष्टि से चल रहा है। फिर मानव ही क्यो समता से दूर हटता जाता है?

●

भाषा अशमात्र

भाषा-ज्ञान पूर्ण शिक्षा का रूप नही ले सकता है। वह तो स्वानुभूति व्यक्त करने के साधनो मे से अनुकरणीय साधन का एक अशमात्र है।

●

कर्त्तव्य

फल को देखने वाला आगे नही बढ सकता, कर्त्तव्य को देखने वाला ही आगे बढ सकता है।

●

उस वक्त

जिस समय विचारो-का-तूफान आता है, उस समय सहसा किसी भी कार्य को करना अनर्थकारी होता है। उस समय ज्ञान-की-मात्रा विलुप्त हो जाती है।

●

सच्ची परिभाषा जीवन की

जीवन की असली परिभाषा मृत्यु को समझना है। जीवन-और मृत्यु को महोत्सव मानना ही जीवन के वास्तविक सार को समझना है। यह जीवन अनन्तअगाध है, अजर-अमर है, परन्तु इस

पाँच-सात फुट की देहमात्र को जीवन मानना हमारे ज्ञान का बौनापन है। यही कारण है कि हम सत्य से अतीव दूर हैं।

●

ग्रन्थियां

समार मे ग्रन्थियाँ, गठाने कई प्रकार की हैं। कपडा, रस्सी आदि की ग्रन्थियां सहज रूप से खोली जा सकती है। इनकी अपेक्षा बारीक तन्तुओ से बने जाल की ग्रन्थियां खोलना अधिक कठिन होता है। इनकी अपेक्षा भी बाँस आदि वृक्षो के मूल की ग्रन्थियाँ अति दुरूह होती हैं। इनका विमोचन सहसा आसान नही। इन सबसे भी बढ कर मिथ्यात्व-की-ग्रन्थि है।

●

ज्ञान/चारित्र

ज्ञान तो पण्डितो मे बहुत है, पर उन्हे कौन पूछता है? ज्ञान ही श्रेष्ठ होता तो वे पण्डित साधुओ की तरह पूजनीय बन जाते, पर ऐमा है नही। वस्तुत ज्ञान की नही, चारित्र की आवश्यकता है।वही सब कुछ है। यह ज्ञान का अपलाप है। इससे भी बचना होगा। ऐकान्तिक कथन प्रगाढ बध का कारण बनता है।

●

स्वल्प दुर्गुण

अमरवेल का छोटा-सा टुकडा भी यदि वृक्ष पर रह जाता है तो वह पूरे वृक्ष को सुखा डालता है। स्वल्प दुर्गुण भी अमरवेल की तरह जीवन के सद्गुण-रूपी वृक्ष को सुखा डालता है।

●

कण-कण खिल उठेगा

अमृत-की-घूँट को पाने का अभिलाषी यदि अमरता के पावन-पुनीत पथ को पाना चाहता है तो उसका पुरुषार्थ अध्यात्म-पथ की ओर सतत् गतिवान् होगा। उसे परम पद अवश्य मिलेगा। उसके जीवन का कण-कण खिल उठेगा।

●

नई तालीम

नई तालीम दी जाए, मगर उसका नक्शा वास्तविक एव स्थायी शान्ति का हो। बुनियादी आवश्यकताओ के साधनो का। केन्द्रीकरण हो कर अन्न-वस्त्र आदि जरूरी चीजो मे स्वावलम्बी एव स्वतन्त्र हो जाएँ, फिर भी जब तक प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे का अग है, एक कुटुम्बी है, एक ही प्रकृति-माता की सन्तान-सहोदर-भाई है और उनके साथ मेरा वही कर्तव्य है जो कि स्वशरीर के साथ है, ऐसी विश्वव्यापी एकात्मीयता की शिक्षा नई तालीम के नक्शे मे मुख्यत नही रखी जाएगी, तब तक वर्ग-विहीन, शोषण-मुक्त एव स्थायी शान्ति-युक्त समाज की स्थापना नही हो सकती।

●

अन्तर्दृष्टि जगाये

विषमता का अन्त समता से होगा। यदि विषमताएँ दूर करनी हैं तो समता को अपनाना

होगा। यदि समता को अखण्ड रूप देना है तो समता-दर्शन के साथ जीवन का सपर्क साधना/बनाना होगा। इस सबके लिए अन्तर्दृष्टि जगानी होगी।

●

ग्रन्थियां खोले

चर्म-चक्षुओ की नहीं, अन्तर्दृष्टि ही यथार्थ स्वरूप देख पायेगी, जिसके प्रभाव से मस्तिष्क की जटिल ग्रन्थियां खुल सकेगी। ग्रन्थियां खुल जाने से मन-मस्तिष्क साफ हो जाएंगे। इनके स्वच्छ धरातल पर तब समता-दर्शन का स्वरूप साकार हो सकेगा।

●

छोटी-छोटी बातें

छोटी-छोटी बातो को लेकर पद-लिप्सा से कोई गुट या पार्टी बनाना जनता के साथ धोखा है। यह देश या समाज की सुव्यवस्था की ओट मे देश और समाज के प्रति द्रोह है। वास्तविक रूप से जन-सेवा करने वाले ऐसा कभी नही सोचते। उनके तन, मन और धन व्यर्थ के कार्यो मे नष्ट नही होते। वे व्यक्तिगत स्वार्थ के पीछे पार्टीबाजी मे नही पडते। वे सही रूप से कर्त्तव्य को सामने रख कर चलते है, न कि निजी या व्यक्तिगत स्वार्थ को।

●

बारीक भूसे-की-तरह

जो कुछ भी बाह्य नेत्रो से दिखायी दे रहा है, वह तो उडते हुए निस्सार बारीक भूसे-की-समान है, अत इसी मे उलझ जाना अमूल्य जीवन को व्यर्थ गँवाना है, जो कि बुद्धिमान मुनष्य के लिए बहुत विचारणीय है। इस विषय पर वस्तुस्थिति अवर्णनीय है, पर वह अनुभवगम्य अवश्य है। यदि यह अनुभव सही मायने मे हो जाए, तो उसे चिन्तामणि रत्न की उपमा दी जा सकती है।

●

भयकर पाप

छलना भयकर पाप है। इससे सभी तरह की हानियां हैं। आन्तरिक जीवन पर पर्दा पडता है, विकास-मार्ग खत्म होता है, विकसित जीवन की कडियां कुण्ठित हो कर दब जाती हैं, मलिनता का साम्राज्य छा जाता है, मानव मानव के रूप मे न रह कर दानव/पशु के रूप मे चरण रखता है।

●

मशीन न बनें

जीवन की मशीनी गति से हाथ मे कुछ भी नही रह पायेगा। सम्यग्ज्ञान के साथ सही लक्ष्य पर पूर्ण श्रद्धा रखते हुए शुद्ध आचरण से जो उपलब्धि हो सकती है, वह उपलब्धि दिव्य होगी। उसमे जो सतत्त्व प्राप्त होगा, वह श्रेष्ठ स्थिति पर पहुँचाने वाला होगा।

●

सही दिशा

जीवन-की-रेखा पलटना स्वय के हाथ है। जैसा भी जीवन बनाना चाहे, बनाया जा सकता

है। पर वैसी अटूट दृढ़तर श्रद्धा की नितान्त आवश्यकता है। इसके लिए ज्ञान की शक्ति भी सही दिशा की ओर होनी चाहिये।

●

क्रम एक, छोर दो

व्यक्ति और विश्व एक ही क्रम के दो छोर हैं। व्यक्ति के जीवन से प्रारम्भ हुई समता विश्व-शान्ति के रूप मे विकसित होती है।

●

एक किरण काफी

प्रकाश आता है, तो अन्धकार नहीं टिकता। प्रकाश के अभाव मे ही अन्धकार की कालिमा स्थित रहती है। विषमता तभी तक है जब तक समता का उदय नही होता। प्रकाश की एक किरण जैसे गहन अन्धकार को भेद देती है, वैसे ही समता की दिशा मे गति का आरम्भ ही विषमता को हिला देगा।

●

उन्नति-की-माँ

विश्व का प्रत्येक पदार्थ एक-दूसरे से सबद्ध है। कोई भी ऐसा नही है, जो एक-दूसरे से बिलकुल निरपेक्ष हो। समाज के अन्दर ही सब कुछ है, अर्थात् समस्त उन्नति की जननी कहो तो समाज है।

●

विश्व एक घर

विश्व एक घर है। इसमे विविध प्राणिगण तथा विविध पदार्थ विद्यमान् हैं। इन सभी को सही तौर पर भली भाँति जानना एव उनके साथ यथार्थ वर्तन स्वरूप कर्त्तव्य-दृष्टि का पालन होना जन्मसिद्ध अधिकार के रूप मे स्वत बनता है।

●

जीना बने त्यागमय

आपका जीवन उन सबके जीने मे किसी भी प्रकार बाधक न हो। आप अपने जीने को त्यागमय बनाये और अन्य सभी प्राणियो के जीने को सुन्दर बनाने मे अपना सपूर्ण योगदान करे।

●

गुणवत्ता का श्रेष्ठ स्तर

पर्यावरण-रक्षा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि वनस्पति, जल, वायु, पृथ्वी तथा उनके उत्पादनो की गुणवत्ता का श्रेष्ठ स्तर कायम रखा जाए, जिसके कारण सूक्ष्म एव स्थूल सभी प्राणियो के प्राणो का पोषण यथारीति होता रहे।

●

मन-मन्दिर

मन-मन्दिर मे रोज झाड लगाने की आदत बनायी जानी चाहिये, जिससे ममता की गदगी हटती जाए और समता की निर्मलता आती जाए।

ज़हर . पकडो मत

जिस प्रकार क्षणिक, क्रोध और उत्तेजना जीवन-भर की उपलब्धि को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार विचार एव व्यवहार की मृदुता एक नही, कई जीवनो को शान्त बनाये रखती है। ज़हरीले विचारो, ज़हरीले वचनो, और ज़हरीले व्यवहार को पकडो मत, क्योकि पकडने से उनकी ज़हरीली आग भीतर प्रवेश कर जाती है।

●

जागृत हृदय

जो सदा जागृत हृदय से कथन करता है और उसे जागृत हृदय से ही आचरण मे उतारता है, उसकी आत्मा का विकास सहज ही सम्पादित हो सकता है। आत्मा की विराट् चैतन्य-शक्ति चिन्तन, कथन एव आचरण की शुद्ध जागृति मे से प्रस्फुटित होती है।

●

निर्मलता

आन्तरिक तत्त्वो को देखने के लिए ज्ञान की तीक्ष्णता का होना आवश्यक है, अर्थात् ज्ञान की निर्मलता जितनी वढेगी, उतनी ही तीक्ष्णता-की-स्थिति वनती जाएगी। ज्ञान की निर्मलता जीवन की निर्मल अवस्था पर अवलम्बित है। जीवन को निर्मल वनाने के लिए भौतिक वस्तुओ पर से ममत्व हटाना आवश्यक है।

●

चरैवेति

साधक को साधना के क्षेत्र मे निरन्तर चलते रहना चाहिये। कभी भी विराम की नही सोचना चाहिये। विराम का चिन्तन साधक के गिराव (पतन) का सूचक है।

●

वैज्ञानिक की तरह

जागृत आत्मा एक वैज्ञानिक की तरह निरीक्षण/परीक्षण की प्रक्रियाओ मे तटस्थ दृष्टा वन जाती है। विज्ञान के नये आविष्कार करने की जिज्ञासा रखने वाला वैज्ञानिक पहले प्रयोग करता है— एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ मे मिलाता है और निरीक्षण करा है कि उस मिश्रण का दोनो पर कैसा प्रभाव पडा? ध्यान रखने की वात है कि पदार्थो की पारस्परिक प्रभावशीलता मे वह अपना भान नही भूलता है, स्वय तटस्थ रह कर पदार्थों के विभिन्न मिश्रणो के परिणामो को तोलता/परखता है।

●

जीभ : स्वाद/शब्द

जिह्वा स्वाद और शब्द की भूल होती है। ये दोनो शक्तिया अपने-आप मे वडी विशिष्ट है। इन शक्तियो के प्रवाह को यदि ठीक से समझ लिया जाए तो इस सत्तार समुद्र की काफी जानकारी हो जाती है।

जडो मे—

विचारो की जडो मे-से ही अमृत या जहर बनता है। इस विराट् विश्व मे विचारो का विभिन्न वैचित्र्य विभिन्न रूपो, प्रकारो, कार्य-कलापो आति के रूप मे परिलक्षित हो रहा है, परन्तु आश्चर्य इस वात का है कि मूल तथ्यो को समझा नही जा रहा है।

●

आत्मावलोकन

आत्मा की मौलिक अवस्था प्राप्त करने के लिए स्वय को ही अधिक देखना पडता है। वास्तविकता वाहर से विकसित नही होती, विकास का मूल स्रोत अदर से ही प्रवाहित होता है।

●

वस्तुस्थिति से पार

सूक्ष्म/सही दृष्टि का चिन्तन वडा विलक्षण होता है। वह वस्तुस्थिति के पार पहुँचाने वाला होता है। इसके लिए चित्तवृत्ति मे समत्व आना चाहिये।

●

यथारूप

जागतिक वस्तुएँ यथास्थान, यथास्वरूप विद्यमान रहती हैं। उनका वस्तुस्वरूप की दृष्टि से अवलोकन करना यथास्थान, यथायोग्य समझना ही श्रेयस्कर है। उन पर राग अथवा द्वेप का उद्वेग लाना योग्य नहीं।

●

अभय की पराकाष्ठा

अभय की अवस्था जव पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तव वह अमर हो जाती है। मृत्यु को जीत लेना अर्थात् उसे मार देना है। अभय-यह कोमल गुण-आत्मा की शक्ति रूप है। उस शक्ति का जन्म विचारो मे होता है।

●

निकाल ही दें इन्हें

भय और चिन्ता को सदा-सर्वदा के लिए जीवन से निकाल ही देना चाहिये। ये जीवन की वहुत वडी शत्रु हैं। इन्ही से जीवन का अधिक ह्रास होता है।

●

घुन

ईर्ष्या पतन का भयकर रास्ता है। यह अमूल्य जीवन का घुन है। यह वह जहर है जो जीवन को श्मशान तक शीघ्र ही पहुँचा देता है। ईर्ष्या एक जीवन को नही, अनेक जीवनो को नष्ट करती है।

●

ग़लत भाषा . ग़लत चिन्तन

मैं यदि मानव हूँ और मुझे मानवता का सात्त्विक गौरव है, तो सवके साथ समता का वर्ताव

करना है यानी यथायोग्य व्यक्ति के साथ यथास्थान व्यवहार रखते हुए स्व-पर के विकास का ध्यान रखना है और मान-अपमान की भाषा मे कभी नही सोचना है।

●

सम्यग्ज्ञान/मिथ्याज्ञान

जो वस्तु जिस समय, जिस रूप मे रही हुई है, उसे उस समय, उस अपेक्षा से उस रूप मे जानना-मानना 'सम्यग्ज्ञान' है। इससे विपरीत यानी जो वस्तु जिस समय, जिस रूप मे नही है, उस अपेक्षा से उसे उस समय, उस रूप मे जानना या मानना 'मिथ्याज्ञान' है।

●

जैसा वेश हो

जिस समय जैसा वेश हो, उस समय उसी के अनुरूप कार्य एव व्यवहार होना चाहिये और जिस समय जैसा कार्य किया जाता हो, उस समय उसी कार्य मे मन, वचन और काया का एकाकार होना जरूरी है।

●

परावलम्बन

स्वय का उत्तरदायित्व स्वय पर है, दूसरो पर नही। दूसरे सहायक बन सकते है, लेकिन कब? जबकि हम स्वय अपने कर्त्तव्य-पालन मे तत्पर हो तब।

●

बाधक नहीं, साधक

विचार-शक्ति का सदुपयोग करने वाला सोचता है कि मुझे आपत्ति मे डालने वाला कोई नही है। जो मेरी उन्नति मे बाधक दिखता है, वह बाधक नही, साधक है।

●

अन्धाधुन्ध

पेडो की अन्धाधुन्ध कटाई से वायुमण्डल मे गदगी बढ रही है और प्राणवायु की कमी हो रही है। वनस्पति के जीवो की इस हिंसा से पृथ्वीकाय के जीवो की हिंसा हो रही है, क्योकि अधिकाधिक कृषि-भूमि अपनी उर्वरा शक्ति खो कर बजड होती जा रही है, जिसका सीधा बुरा प्रभाव मनुष्य एव अन्य प्राणियो की जीवन-रक्षा पर अन्नाभाव के कारण पड रहा है।

●

अहिंसा का शासन

शासन-रहितता से अभिप्राय उस शासन से है, जो शासन शोषण-या-हिंसा-से-युक्त हो, जिसमें विचार-स्वातन्त्र्य का दमन नहीं किया जाता है। शासन इन्सानियत से वचित रखने वाला नही हो, बल्कि प्रेम या अहिंसा का शासन हो तो अवश्य हो। इसके बिना प्रगति सभव नही है।

●

अवदान

दान और अवदान में फर्क है। दान की अपेक्षा अवदान अधिक मृत्युंजय है। अवदान महापुरुषों के सपूर्ण जीवन का महायोग होता है। उसमें उनके प्राणों का सार और स्पन्दन होता है।

अवदान

सत शब्द सातत्य और समानता का परिचायक है। भारतीय सस्कृति के विकास और उन्नयन मे सतो की उल्लेखनीय भूमिका रही है। उन्होंने भारतीय लोक-जीवन को जो गौरव प्रदान किया है, समय-समय पर उसे जो दिशा-दर्शन दिया है—विश्व-के-इतिहास मे उसकी कोई तुलना नही है।

सत-प्रवर आचार्य श्रीनानालालजी का अवदान इस दृष्टि से अद्वितीय है। उनका यह अवदान (कान्ट्रीब्यूशन) बहुआयामी है। उन्होंने पाँच से अधिक दशकीय साधुत्व-शासन मे भारतीयो को जो जीवन-दर्शन (एक सुलझी हुई जीवन-शैली) दिया है, एक वर्ग को गतिशील जीवन जीने की जो कला प्रदान की है, वह अप्रतिम है।

वस्तुत उनका चिन्तन निर्धूम अग्नि की तरह स्पष्ट और असदिग्ध, अनभ्र आकाश की भाँति उदार, और बारहखडी की तरह इतना आसान है कि कोई भी व्यक्ति उसकी उपयोगिता और महत्ता को सरलता से समझ सकता है। यद्यपि उनकी लौकिक शिक्षा अत्यल्प है, तथापि उनके अनुभव और जीवन-प्रयोग अचूक, अनगिन, और निर्द्वन्द्व हैं। उनके सोचने मे ऐसा कुछ नही है, जिसकी नीव पाताल-तक-गहरी न गयी हो। उन्होंने समतामूलक जीवन-शैली के हर पहलू को अपने जीवन मे ढाल कर देखा है, असल मे उसे सिर्फ ढाल कर ही नही देखा है, वरन् उसे अपने जीवन-मे-से प्रकट भी किया है। वे कोरे सिद्धान्तवादी नही है, व्यवहारवादी भी है। उनके जीवन-सूर्य की जो किरणे जन-जीवन मे रोशनी बनी हैं, वे ध्यान देने योग्य हैं।

समता-दर्शन और उसे जी कर जीवन मे प्रकट करने वाली समता-समाज आचार्यश्री के प्रमुख योगदान है। हमारा देश विषमताओ और विविधताओ का देश है। आचार्यश्री ने इन विविधताओ/विषमताओ मे-से एकरूपता और समता के जो दर्शन किये हैं, वही भारतीय सस्कृति की अस्मिता का सघटन करते हैं।

उनके समता-दर्शन के दो पक्ष है—व्यक्ति, समाज। दूसरे शब्दो मे हम इन्हे अन्तर्मुख और बहिर्मुख पक्ष भी कह सकते हैं।

व्यक्ति पर आज जो सकट है, उसके जीवन मे जो हाहाकार, कोलाहल, और वैषम्य है—उससे वह बुरी तरह टूट गया है। उसके पाँव लगभग उखड गये हैं। सत्रास के इन विकट क्षणो मे उसके व्यक्तित्व को एक, सगठित और व्यवस्थित करना बहुत जरूरी है।

व्यक्ति समाज की इकाई है। यदि वही विघटित और खण्डित होता है, या भीतर से टूटता है तो उसका यह विघटन/टूटन पूरे समाज को प्रभावित करेगा। ममाज मे आज जो विखराव है, उसका प्रमुख कारण उसकी तलवर्ती समता का खण्डित होना ही है। यदि हम समाज मे किसी सुनियोजित सतुलन और साम्य की वापसी चाहते हैं, तो यह बहुत जरूरी होगा कि हम आचार्यश्री के समता-दर्शन को गॉव-गॉव और शहर-शहर पहुँचाये।

ख्याल रहे उनके द्वारा प्रतिपादित यह जीवन-शैली साम्प्रदायिक नही है। वह सिर-से-पैर तक सम्प्रदायातीत है।

श्री नानालालजी का जीवन-दर्शन किसी सम्प्रदाय के खूँटे से बँधा हुआ नही है, वे किसी एक जगह रुकते ही नही हैं। वे डायनेमिक हैं, गतिशील हैं। उनका चिन्तन, उनका जीवन 'चरैवेति' के मन्त्र से स्फूर्त है। वे अपने वर्षायोग मे भी मेघावली-की-तरह गतिशील वने रहते हैं। उन्हे एकान्त चाहिये। वे कोलाहल से दूर स्वय-की-खोज मे एक खोजी वैज्ञानिक की तरह अनवरत लगे रहते हैं। धर्म उनके लिए विज्ञान है। वे उसे शास्त्र-की-पृष्ठभूमि पर जीवन-से-जोड कर चलने वाले महापुरुष हैं। मर्यादाओ का प्रतिपल/प्रतिपग परिपालन उनका एक महत्त्वपूर्ण मिशन है। वे अपने सघ और उसकी जीवन-मर्यादाओ के प्रति प्रतिक्षण सावधान हैं। वे जो भी करते है, उसके आगे की जमीन पहले देख लेते है। उनके सामने भविष्य भी वर्तमान की तरह स्पष्ट होता है।

उन्होने माना है कि विषमताओ की जडे मानव-मन मे वहुत गहरे पडी हुई है। इन जड़ो को ध्यान-की-आग से ही अस्तित्व-शेष किया जा सकता है। मनुष्य मे क्रोध, मान, माया, लोभ जैसे विकार बहुत गहरे धँसे हुए हैं, या कहें कि मनुष्य इन विकृतियो मे वहुत गहरे फँसा हुआ है, अत जब तक वह अपने 'होने' की आमूल-चूल समीक्षा नही करेगा, तव तक उसे यह भान नही होगा कि वह समता-के-पथ पर कैसे आये। सवमे पहले उसे 'स्व' को खोजना होगा। उसे पता पाना होगा कि 'स्व' कहाँ है? उसे देखना होगा कि उसका मूल स्वरूप क्या है? क्या क्रोध, मान, माया, और लोभ ओढे हुए अस्तित्व हैं? क्या क्षमा, मार्दव, आर्जव ओर अपरिग्रह उसका स्वभाव हैं? जव तक वह अपने वर्तमान की दाहक समीक्षा नही करेगा, स्वय को वह अपने तल-अतल मे नही डाल पायेगा। जव तक वह स्वय डुवकी नही भरेगा,तव तक उसकी अपनी शक्तियो पर पकड नही वन पायेगी।

समता–जो मनुष्य का मौलिक व्यक्तित्व है–को प्रकट करने के लिए आचार्यश्री ने समीक्षण-ध्यान की पद्धति को आविष्कृत किया है। कहा है कि पहले तुम अपना उत्खनन करो। पहले तुम अपने मन-के-खेत मे ध्यान-का-हल चलाओ और क्षमा, अहिंसा,विनय, और अनासक्ति के बीज उसमे डालो और फिर हरी-भरी फसल आये तब उसे पूरे विश्व को बाँटो। उनका मानना है कि जब तक हम व्यक्ति को शुद्ध नही करते, समाज की परिशुद्धि सभव नही है। आज वस्तुत समाज-का-परिवेश इतना प्रदूषित है कि हम उसमे ठीक से साँस भी नही ले सकते।

व्यक्ति-शुद्धि के लिए अन्तरावलोकन आवश्यक है। इस अन्तरावलोकन के दो सूत्र है–खुद मे गहरे उतरना, गहरे उतर कर विकृतियो को बाहर उलीचना। अन्तरावलोकन की प्रक्रिया मे व्यक्ति देखे कि वह क्या है और वह क्या हुआ है, वह कहाँ है और उसे कहाँ होना था। ऐसा करने से उसे अपने स्वभाव का अनुभव होगा और वह अपनी सहज शक्तियो को पहचान सकेगा। जैसे ही व्यक्ति अपनी शक्तियो को पहचानने लगता है, वह शक्तिशाली हो पडता है। जब समाज व्यक्तिश परिशुद्ध और शक्तिशाली होगा, तब पूरे समाज मे ऐसा वातावरण बनेगा जो विश्व-शान्ति की स्थापना मे सहयोगी होगा।

समीक्षण-ध्यान आचार्यश्री की एक ऐसी जीवन्त देन है, जिसे मानव-समाज कभी विस्मृत नही कर पायेगा। सापेक्षता का सिद्धान्त प्रवर्तित कर जिस तरह वैज्ञानिक आइन्स्टाइन ने विज्ञान को समृद्ध किया–उसे उपकृत/सुदृढ किया, ठीक वैसे ही आचार्यश्री ने समता-दर्शन के प्रवर्तन द्वारा अखिल मानवता को अनुगृहीत किया है। उनका यह दर्शन मनुष्य के सर्वतोमुख उत्थान की एक ऐसी आधार-शिला है जो उसे सकट, द्वन्द्व और विघटन के दु खदायी क्षणो मे भी कभी उखडने नही देगी।

धर्मपाल-अभियान आचार्यश्री नानालालजी के समता-दर्शन की मूर्त अभिव्यक्ति है। 'जैन' शब्द को जो उत्कर्ष धर्मपाल-अभियान से मिला है, वह और किसी अभियान से किसी और ने अब तक नही दिया है। अस्पृश्यता का अस्तित्व बहिर्मुख नही है। यदि हम इसका कोई समाधान ढूँढना चाहते है तो पहले व्यक्ति को समता-के-अमृत से परितृप्त करना होगा। समता के सम्मुख अस्पृश्यता कभी टिक नही सकती। जैसे प्रकाश के आगे अन्धकार घुटने टेक

पृष्ठ १२४ पर जारी →

धर्मपाल-अभियान

परिकल्पना २२ मार्च १९६४, ग्राम-बनवना (मालवा, मध्यप्रदेश)।

सूत्रपात २३ मार्च १९६४, ग्राम-गुराडिया (मालवा, मध्यप्रदेश)।

प्रवर्तन आचार्य श्री नानालालजी, पन्द्रहवे तीर्थंकर धर्मनाथ की वन्दना के साथ सहज स्फूर्त नाम।

कार्य-क्षेत्र मालवा, मध्यप्रदेश, लगभग ३०० वर्गमील मे विस्तृत क्षेत्र।

ग्राम-सख्या ६००।

प्रमुख जिले उज्जैन, रतलाम, धार, मन्दसौर, शाजापुर, देवास, इन्दौर।

सबधित जन बलाई, लगभग एक लाख।

'धर्मपाल' शब्द का अर्थ जो अपने दोष स्वय देखे और उन्हे दूर करे तथा एक अहिंसक/व्यसनमुक्त, सादगी/सयम पूर्ण जीवन के लिए सकल्पबद्ध हो।

लक्ष्य सयम, समता, सादगी, सुसस्कार (व्यसन-मुक्ति/व्यसन सात हैं—जुआ, मांस, शराब, चोरी, परस्त्री-गमन, वेश्या-गमन, शिकार का त्याग), सुस्वास्थ्य तथा स्वच्छता के लिए जन-जागृति।

धर्मपाल-सम्मेलन १९६४/चीकली, १९७३/जावरा, १९७५/देशनोक, १९७६/नोखामडी, १९७९/इन्दौर।

धर्मपाल-शालाएँ ११ छात्र/१९६९, २२ छात्र/१९७३।

धर्मपाल नवयुवक रैली नव १९७४, अक्टू १९७६, जन १९७८।

चिकित्सा-शिविर १९७५/बदनावर।

धर्मपाल प्रशिक्षण-शिविर १९७५/मक्सी।

क्षेत्रीय धर्मपाल-सम्मेलन दिस १९७५/नागदा-खाचरौद, जून १९७६/नागदा।

धर्म-जागरण पद-यात्राएँ अप्रैल/१९७५, मार्च/१९७६, अप्रैल/१९७८, मार्च/१९७९, मार्च/१९८०।

धर्मपाल स्नेह-सम्मेलन १२ जन १९७६/सरसी, १६ जन १९७६/मोगरा, १८ जन १९७६/शिवपुर रामपुरिया।

धर्मपाल स्वास्थ्य-परीक्षा मई १९७६/मक्सी।

धर्मपाल शिक्षक प्रशिक्षण शिविर मई १९७६/मन्दसौर, मई १९७७/रतलाम।

कार्यकर्ता प्रशिक्षण शिविर सित १९७८/रतलाम।

धर्मपाल जैन छात्रावास दिलीपनगर, रतलाम/७ जुलाई १९७९।

समाज-रचना के पाँच सूत्र धर्मेश मुनि/गुराडिया/२६ फर १९७९—एक/ आत्मशुद्धिकरण (अविकृतिकरण), दो/व्यसन-मुक्त जनो से सामाजिक सबन्ध, तीन/मासिक अगता (सपूर्ण जीव-हिंसा का सकल्प), चार/आपसी विवादो के निराकरण के लिए धर्मपाल-पचायतो की स्थापना, पाँच/अहिंसक समाज-रचना के लिए भरपूर कोशिश।

धर्मपाल युवा-शिविर जून १९८०/रतलाम।

धर्मपाल-दिवस २३ मार्च।

☐ धर्मपाल-अभियान एक ऐसा लोक कल्याणकारी अभियान है जो समूचे जैन समाज को ही नहीं अपितु भारतीय समाज को गौरवान्वित करता है।

☐ धर्मपाल कोई बलाई ही हो यह जरूरी नहीं है, वह जैन भी हो सकता है। क्या कोई जैन अपने दोषो को दोष देख कर उन्हें छुपाने या अनालोचित या अनालुछित छोडने अथवा रखने का प्रयास करेगा? यदि करेगा तो वह तत्क्षण जैन ही नहीं वरन् मनुष्य ही ठीक से नहीं रह पायेगा।

☐ महावीर के इस अजर-अमर वाक्य को कि कोई जन्म मे नही कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र (मन्त्री, सिपाही, सेवक, अध्यापक, चिकित्सक,अभियन्ता आदि) हो सकता है न सिर्फ धर्मपाल या जैन के मन प्राण मे बल्कि पूरी दुनिया के दिलोदिमाग़ मे बो देना चाहिये ताकि देर से ही सही समता की उस डगर पर हम चल सकें जो सार्वभौम शान्ति और कल्याण की एकमात्र डगर है।



→ पृष्ठ १२१ से आगे
देता है, ठीक वैसे ही समता के सामने अस्पृश्यता—जो एक तरह की विषमता ही है—सिर-पर-पॉव रख कर भाग खडी होती है।

वलाई मनुज हैं। मनुष्य एक-दूसरे को अछूत माने, यह कहाँ का न्याय है? जब हम वैल, कुत्ता, ऊँट,भेड, बकरी, गधे तक को स्पृश्य मानते है, तव फिर मनुष्य के किसी वर्ग को अस्पृश्य मानना और उसे शोषण,दमन-दोहन, रूढि आदि का शिकार होने देना/कहाँ तक उचित है?

इस सामाजिक विषमता या अनौचित्य का अनुभव किया साधुमार्गी जैन सघ के वर्तमान आचार्यश्री नानालालजी ने। सन् १९६३ मे उन्होने बलाइयो के हाथ मे समता की मशाल थमायी। उन्हे अहिंसा और सत्य, ममता और सम्यक्त्व, अचौर्य और ब्रह्मचर्य का पाठ पढाया। उन्हे जीने की एक अहिंसा-समतामूलक पद्धति मे दीक्षित किया। आचार्यश्री ने अनुभव किया कि जब तक हम समाज मे-से सामाजिक वैषम्य को उखाड नही फेकते, भगवान् महावीर के प्रति न्याय नही कर पायेगे। आचार्यश्री की मान्यता है कि महावीर जैसी महान् विभूति केवल जयघोप के लिए नही है,बल्कि अपने जीवन मे उतारने के लिए है।

साधुमार्गी जैन सघ की धर्मपाल-अभियान जैसी उपलब्धि की तुलना मे जैनो के किसी भी वर्ग के पास ऐसा कुछ नही है, जो भगवान् महावीर अथवा जैनाचार को गौरवान्वित करता हो। आज से तीन दशक पूर्व मध्यप्रदेश के वनवना ग्राम मे जो घटना घटित हुई उसने अखिल मानवता के मस्तक को कुकुम-रोली के तिलक से विभूषित किया। २३ मार्च १९६३ को इस धरती पर अमृत की जो पहली धार पडी उससे अभिशप्त-सत्रस्त मानवता सतृप्त हुई। लगा जैसे किसी गौतम बुद्ध की हथेलियो के मध्य कोई घायल पक्षी अभय पा गया हो। आचार्यश्री के निर्मल हृदय ने तव यह अनुभव किया कि यदि समाज का कोई तवका आहत है तो यह संभव नही है कि समग्र समाज सुख-शान्ति की साँस ले सके। जिस तरह सपूर्ण शरीर के स्वास्थ्य के लिए शरीर के सारे अवयवो का स्वस्थ्य और नीरोग होना आवश्यक है, ठीक वैसे ही मानव-समाज की सुख-शान्ति और निर्विघ्नता के लिए प्रत्येक मनुष्य के स्वस्थ, समग्र, अखण्ड ओर कल्याणरत होना जरूरी है। जव तक एक इन्सान दूसरे इन्सान के सुख के लिए हशिया लेकर नही चलेगा, यह असम्भव ही होगा कि हम युद्धो और हत्याओं को रोक पाये। आचार्यवर ने कहा कि समता-दर्शन ही विश्व-शान्ति की रीढ वन सकता है। उन्होंने अपने प्रवचनो मे अपने इस कथन की कई

उदाहरणो से पुष्टि की है।

सन् १९८७ मे इन्दौर-वर्षावास मे उन्होने सस्कार-क्रान्ति को ले कर जो विचार व्यक्त किये हैं, वे मनुष्य को उसी तरह समग्र/एकत्र करने वाले हैं जिस तरह आषाढ मास का पहला पानी दुस्सह गर्मी से फटी धरती-दरार-पडी जमीन-को जोडना है। आचार्यश्री का समता-दर्शन सतप्त मानवता के लिए एक ऐसा मंगलकारी सदेश है जो उसके व्यक्तित्व को निर्विष बनाता है और उसके घावो पर चन्दन-लेप करता है। वस्तुत समता-दर्शन इस धरती का आह्लादक मगल गान है।

समता-दर्शन और समीक्षण-ध्यान की तरह ही आचार्य-प्रवर का एक और महत्त्वपूर्ण योगदान है—समवसरण। यह शब्द उनका नही है, मेरा है। 'समवसरण' वैसे अर्हन्त भगवान् के उस देशना-स्थल का नाम है, जहाँ तिर्यंच, मनुष्य, और देव सब उनकी अमृतवाणी के अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। समवसरण जैनधर्म का एक रूढ शब्द है, जिसका एक अर्थ हो सकता है ऐसी कोई प्रक्रिया जिसमे सभी प्राणियो को आत्मोन्नयन का समान अवसर मिला है, जहाँ किसी के साथ किसी तरह का कोई भेद-भाव नही बरता गया है। आचार्यश्री का मानना है कि आत्मोन्नयन के अवसर सबके लिए सहज उपलब्ध हैं, सवाल सिर्फ उनके उपयोग का है। इस क्षेत्र मे सपूर्ण युद्ध स्वय को जूझना है। आत्मबोध से आत्मशुद्धि तक की सारी प्रक्रिया मनुष्य के भीतर जो प्रयोगशाला है उसी मे सपन्न होती है, बाहर से कोई कुमुक या सहायता नही मिलती। स्वाधीनता जैनदर्शन का अलभ्य अवदान है। इस धारणा को जिसने जाना-समझा उसे मुक्ति-की-डगर पर आया समझो।

'समवसर' शब्द 'सम्+अव+सृ+अच्' से मिल कर बना है। यह सस्कृत का शब्द है। जिस तरह 'किरण' (रे) से 'किरणन' (रेडिएशन) बनता है, ठीक वैसे ही 'समवसरण' शब्द बना है, जिसका अर्थ है ऐसा स्थल जहाँ अधिकाधिक प्राणी एक साथ बैठ कर किसी महान् साधक की देख-रेख मे आत्मोत्थान की योजना करते हैं। समवसरण-की-रचना अभूतपूर्व होती है। यह भारतीय शिल्प/स्थापत्य का उत्कृष्ट नमूना है। समवसरण मे सब एक-जैसे होते हैं। न कोई छोटा, न कोई बडा, न कोई धनी, न कोई निर्धन, न कोई राजा न कोई रक, न कोई नर, न कोई नारी, न कोई बालक, न कोई वृद्ध—क्योकि ये सब पुद्गल की पर्याय हैं—आत्मा की पर्याय नही हैं। समवसरण 'आत्मवत्

सर्वभूतेषु' (जैसा मै, वैसे सब) की महत्तम अनुभूति की साधना-भूमि है। आचार्यश्री का समता-दर्शन/समीक्षण-ध्यान/धर्मपाल-अभियान समवसरण की इस प्राणधारा मे सम्प्रेरित है। समता-दर्शन को हम समवसरण का लघुसंस्करण कह सकते हैं।

आचार्यवर का यह अवदान जब तक सूरज है, चन्द्र है, नक्षत्र हैं, आकाश है, वसुन्धरा है तब तक प्राणि-मात्र को प्रकाश मे अन्धकार, असत्य से सत्य तथा भंगुरता से अमरता की ओर ले जाता रहेगा।

□

सातत्य

जो सतत् है, उसमे किसी ऊर्जा के न होने का प्रश्न ही नही है। सामान्य का सातत्य भी शक्तिशाली होता है, और बलशाली की विरलता, या टूटन किये-कराये पर पानी फेर देती है। सातत्य स्वय मे एक महान् शक्ति है।

सातत्य

साधुमार्ग के पास आचार्यो की जो थाती है, वह व्यक्ति-शुद्धि का अभिनव उपाय है। यह परम्परा एक ऐसी नदी है जिसका जल मन को प्रतिपल निर्मल/शुभ्र बनाये रख सकता है। बहती नदी का जल निर्मल होता है। जल जब घिर जाता है, तब या तो वह सूख जाता है या फिर उसमे सडाँध/विकृति उत्पन्न हो जाती है। साधुमार्ग-की-सरिता का जल सतत् निर्मल है। इसके आचार्यों ने कभी स्वय को पुराना (बासी) नही होने दिया। वे जैनदर्शन और जैनाचार की मौलिकताओ की रक्षा करते हुए नये विश्व-सदर्भों मे स्वय को/सघ को बराबर समायोजित करते रहे। इस सिलसिले मे हम आचार्य श्री जवाहरलालजी की सिंहगर्जना को विस्मृत नही कर सकते, जिन्होंने आज से एक सौ दो वर्ष पूर्व कहा था--'प्रकृति की पाठशाला मे-से जो सस्कारी ज्ञान मिलता है, वह कॉलेज या हाईस्कूल मे मिलना कठिन है'। झरने को देख कर उनके मन पर जो प्रतिक्रिया हुई उसे देखे। वे कहते हैं 'यह झरना अपना समस्त जीवन (जल) किसी बडी नदी को सौप देता है और उसके साथ हो कर समुद्र मे विलीन हो जाता है। वहाँ पहुँच कर वह अपना नाम भी शेष नही रहने देता। इसी प्रकार मैं भी किसी महापुरुष की सगति से परमात्मा मे मिल जाऊँ तो क्या कहना है।।' यह है विरासत जो हमे साधुमार्ग के प्रशस्त सतो से मिलती है। क्या हम अ-नाम त्याग की किमी परम्परा को इस तरह जीवन्त रख पायेंगे?

साधुओ की ओर सकेत करते हुए आचार्य श्री जवाहरलालजी ने सन् १९१०मे कहा था--व्यापारी व्यापार मे हानि-लाभ का विचार करता है, पर हे मुनियो! तुम व्यापारी की तरह हानि-लाभ के झमेले मे मत पडो। अपनी उद्देश्य-सिद्धि की, और अपने कर्त्तव्य-पालन की ओर ही ध्यान रखो। लाभ-हानि के द्वन्द्व मे न पडना सयम का मूल लक्षण है।' क्या साधुमार्ग के साधु इम विरासत के सातत्य को विसगतियो-से-भरे इस समाज मे बनाये रखेगे? यह चुनोती है जिसे साधुमार्ग को झेलना है और पूरे देश के साधुओ के सामने एक ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करना है।

हमे आचार्य जवाहरलालजी के इस विचार-के-सूत्र को भी अटूट रखना है कि 'सत्याग्रह के वल की तुलना कोई बल नही कर सकता। इस बल के सामने मनुष्य की शक्ति तो क्या, देवशक्ति भी हार मान जाती है।' सत्य के

प्रति इस निष्ठा के सातत्य को यदि साधुमार्गी श्रमण और श्रमणोपासक निभाते है तो ऐसी कोई शक्ति इस विश्व मे नही है जो उन्हे पराजित कर सके।

क्रियोद्धारक आचार्य श्रीहुक्मीचदजी से ले कर धर्मपाल-अभियान के प्रवर्तक आचार्य श्रीनानालालजी तक जो भी आदर्श हमारे झोले मे हैं हम उन्हे सँभाल कर रखे और देखे कि कोई अँधेरा ऐसी हिम्मत नही कर सकेगा कि हमे हराये या निराश करे। यदि आठ दीयो की यह कतार आपकी हथेली पर है तो आप ही बताये कि क्या आपको किसी प्रकाश की कमी पड सकती है? प्रश्न सिर्फ रोशनी के उपयोग का रहेगा। वह आप पर निर्भर है।

इसी तरह जिस तरह हम आचार्य जवाहरलालजी के चिन्तन-चिन्तामणियो को अपने मन की हथेली पर रख कर निरापद-निर्विघ्न बने रह सकते है, उसी तरह यदि वर्तमान आचार्य श्री नानालालजी के चिन्तन-कल्पवृक्षो से हम अपने मन-के-उद्यान को हरा रखे तो कोई कारण नही है कि हम विफल हो। आचार्यवर एक जगह कहते है–'प्रशसा जहरीले सर्प के समान है। अगर इसका जहर तुझे चढ गया तो तू नष्ट हो जाएगा।' क्या प्रशसा-का-नाग हमे न डसे, इसलिए आचार्य-परम्परा से मिले प्रशम-रति/परम वैराग्य के कवच को धारण कर हम निर्विष/निर्विघ्न रह सकते हैं?

आचार्यवर कहते हैं–'विपमता मनुष्य के मन को विकृत वनाती है। मनुष्य विकृत मन से अपना व्यवहार विकृत बनाता है और इस तरह विकृति का समाजीकरण होने लगता है।' क्या हम विकृतियो के समाजीकरण के इस विपचक्र को नही काट पायेगे ताकि साधुमार्गी आचार्य-परम्परा निर्विघ्न बनी रहे और लोकोपकार की गगा-धार बहती रह सके?

एक मौके पर आचार्यवर ने कहा है–'सदाचार कल्पतरु से वढ कर है। स्व-पर मनोवाछित अभीष्ट सिद्धि की उपलब्धि कराने वाला है। शर्त सिर्फ यह है कि वह वास्तविक हो, आत्मप्रसूत हो, अध्यात्म के धरातल पर हो। इसका वर्गीकरण हो सकता है, टुकडे नही हो सकते। कक्षाएँ वन सकती हैं, विभेद नही, अर्थात् शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार इसे अपनाया जा सकता है।'

क्या हम सदाचार-कल्पतरु की वाटिकाएँ अपने घरो मे नही लगायेंगे ताकि साधुमार्गी आचार्य-परम्परा की प्रेरणा का अविरल स्रोत बना रहे और हमारे जीवन मे जब भी कोई बाधा-विघ्न आये उसमे हमारी रक्षा हो? □

परिशिष्ट

राजनीति क्षणभगुर है, चचल है, परन्तु साहित्य चिरस्थायी, मगलमय है, उसके आधारभूत मूल्य की क्षति नहीं होती।

परिशिष्ट-१ साहित्य

अ स्वरचित , आ सबन्धित

अ स्वरचित

अखण्ड सौभाग्य (उपन्यास) १९८७
अमृत सरोवर (प्रवचन)
आदर्श भ्राता चरित्र (काव्य)
आध्यात्मिक आलोक (प्रवचन)
आध्यात्मिक वैभव (प्रवचन)
उभरते प्रश्न, समाधान के आयाम
ऐसे जिएँ
कर्म-प्रकृति (प्रथम खण्ड)
कषाय-समीक्षण
कुकुम के पगलिये (लघु उपन्यास)
गहरी पर्त के हस्ताक्षर (हिन्दी) १९८२
(ऊँडाण ना हस्ताक्षर , गुजराती)
गुरु-वन्दना
जलते जाएँ जीवन-दीप
जिणधम्मो १९८४
जीवन और धर्म (प्रवचन) १९८२
जैन मुनी आणि धर्म (मराठी)
ताप और तप
नव विधान (प्रवचन)
पावस-प्रवचन १, २, ३, ४, ५ (प्रवचन)
प्रवचन-पीयूष (प्रवचन)
प्रेरणा की दिव्य रेखाएँ (प्रवचन)
मगल वाणी (प्रवचन)
मान-समीक्षण १९८७
लक्ष्यवेध
सस्कार-क्रान्ति १९८८

समता-क्रान्ति का आह्वान (हिन्दी)
समता-क्रान्ति चे आह्वान (मराठी)
समता-दर्शन एक दिग्दर्शन
समता-दर्शन और व्यवहार (हिन्दी)
समता-दर्शन अने व्यवहार (गुजराती)
समता-निर्झर
समीक्षण-धारा (प्रवचन)
समीक्षण-ध्यान एक मनोविज्ञान १९८७
समीक्षण-ध्यान प्रयोग-विधि
शक्ति के सोपान
श्रीमज्जवाहर यशोविजय महाकाव्यम्

आ. सबन्धित

अन्तर्पथ के यात्री आचार्य श्रीनानेश १९८२
अविस्मरणीय झलक आचार्य श्रीनानेश का सौराष्ट्र प्रवाह १९८४
अष्टाचार्य एक झलक
अष्टाचार्य गौरव-गगा १९८६
आचार्य श्रीनानेश—एक परिचय (हिन्दी, गुजराती)
आचार्य श्रीनानेश विचार-दर्शन
गुजरात-प्रवास—एक झलक
सफल सौराष्ट्र प्रवास (गुजराती)
'तीर्थंकर' (मासिक) (१९७—१९८), साधुमार्ग विशेषाक,
सितम्बर-अक्टूबर
१९८७ , पृष्ठ १६३-१७०, १८३-१८४, १२२-१२४, २०२ ।

समता-क्रान्ति का आह्वान (हिन्दी)
समता-क्रान्ति चे आह्वान (मराठी)
समता-दर्शन एक दिग्दर्शन
समता-दर्शन और व्यवहार (हिन्दी)
समता-दर्शन अने व्यवहार (गुजराती)
समता-निर्झर
समीक्षण-धारा (प्रवचन)
समीक्षण-ध्यान एक मनोविज्ञान १९८७
समीक्षण-ध्यान प्रयोग-विधि
शक्ति के सोपान
श्रीमज्जवाहर यशोविजय महाकाव्यम्

आ. सबन्धित

अन्तर्पथ के यात्री आचार्य श्रीनानेश १९८२
अविस्मरणीय झलक आचार्य श्रीनानेश का सौराष्ट्र प्रवाह १९८४
अष्टाचार्य एक झलक
अष्टाचार्य गौरव-गगा १९८६
आचार्य श्रीनानेश—एक परिचय (हिन्दी, गुजराती)
आचार्य श्रीनानेश विचार-दर्शन
गुजरात-प्रवास—एक झलक
सफल सौराष्ट्र प्रवास (गुजराती)
'तीर्थंकर' (मासिक) (१९७—१९८), साधुमार्ग विशेषाक,
सितम्बर-अक्टूबर
१९८७ , पृष्ठ १६३-१७०, १८३-१८४, १२२-१२४, २०२ ।

परिशिष्ट-२ संपर्क/समागम

उपाध्याय, प्रकाश , रतलाम-१९८८

उपाध्याय, सिद्धनाथ , धार-१९६३

कान्तिऋषिजी, आचार्य, स्थान सम्प्र गुज कम्भात कादावाडी, बम्बई-१९८५

कुरैशी, मुजीव , नागदा-१९८८

कोठारी, दौलतसिंह (डॉ) , व्यावर-१९७१, राणावास-१९८०

कोठारी, सुभाष , रतलाम-१९८८

कोठारी, हिम्मतसिंह , रतलाम-१९८८

गगवाल, मिश्रीलाल , इन्दौर-१९६४

चन्द्रा, के (डॉ) , अहमदाबाद-१९८२

चम्पक मुनि, आचार्य, स्था सम्प्र गुज बरवाला , अहमदाबाद-१९८२

चौपडा, जसराज , नाथद्वारा-१९९०

जैन, ए के , मन्दसौर-१९८९

जैन, नेमीचन्द (डॉ) , अजमेर-१९७९

जैन, महावीरसरन (डॉ) , अजमेर-१९७९

जैन, प्रेमसुमन (डॉ) , अजमेर-१९७९

जैन, आर सी (डॉ) , उदयपुर-१९८१

जैन, ललित , इन्दौर-१९८७

जैन, सागरमल (डॉ) , रतलाम-१९८८

जैन, सुरेश दादा , जलगाँव-१९८६

टाँटिया, मन्नालाल (डॉ) , शाहदा (महाराष्ट्र)-१९८७

तातेड, आसकरण , भिवडी-१९८४

तिवारी, मुरारीलाल , इन्दौर-१९८७

देशलहरा, मूलचन्द , रतलाम-१९८८

नाहटा, नरेन्द्र , मन्दसौर-१९८९

निलगेकर, शिवाजीराव पाटील , घाटकोपर, बम्बई-१९८५

पाटस्कर, इन्दौर-१९६४

पाटील, चगत दादा , भिवडी-१९८४

पारीक, रामलाल भाई , अहमदाबाद-१९८२

बुन्देला, मोहनसिंह ; नागदा-१९८८
बैद, चन्दनमल , भीनासर-१९७२
बैरागी, बालकवि , मन्दसौर-१९६९
मायनी, सतीश , गोधरा-१९८४
मालवणिया, दलसुखभाई (प) , अहमदाबाद-१९८२
विद्यानन्दजी, आचार्य , बोरीवली, बम्बई-१९८४
वोरा, मोतीलाल , इन्दौर-१९८७
सचेती, कान्तिलाल हस्तीमल (डॉ) , पुणे-१९८६
सरूपारिया, हिम्मतसिंह , उदयपुर-१९८१
सिंघवी, आर वी , अहमदाबाद-१९८२
सुखाडिया, मोहनलाल , मन्दसौर-१९६९
सुराना, आर सी (डॉ) , भावनगर-१९८३
सेठी, प्रकाशचन्द्र , इन्दौर-१९६४
सोनेजी , अहमदाबाद-१९८२
सोलंकी, शिवभानुसिंह , मनासा-१९८४
सौगाणी, कमलचन्द (डॉ) , उदयपुर-१९८१
शक्तावत, गुलाबसिंह , कानोड-१९८९
शर्मा, गौतम , इन्दौर-१९६४
शर्मा, श्रीवल्लभ , इन्दौर-१९८७
शास्त्री, गजानन (डॉ) , धारा-१९६३
शास्त्री, विष्णुकुमार (वैद्य) , वडनगर-१९६३
शान्तिलालजी, आचार्य, स्थान सम्प्र दरियापुरी आठ कोठी ,
अहमदाबाद-१९८२
श्रीमाल, मोहनलाल , कानोड-१९८९
श्रेणिकभाई कस्तूरभाई , अहमदाबाद-१९८२
हस्तीमलजी, आचार्य, स्थान. सम्प्र , भोपालगढ-१९७८